प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपूर, सी. पी.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प चौथा

मुद्रक—
दि. श्री. गोडबोले,
माधव प्रिंटिंग प्रेस,
नागपूर।

वक्तव्य

'प्रेमयोग' का यह सशोधित द्वितीय संस्करण पाठको के सम्मुख रखते हमे बड़ी प्रसन्नता होती है। विश्वविख्यात श्री स्वामी विवेकानन्दजी की 'रिलिजन ऑफ लव' (Religion of Love) नामक पुस्तक का यह हिन्दी अनुवाद है। इसमे के कुछ व्याख्यान श्री स्वामीजी ने इग्लैण्ड मे दिये थे तथा कुछ अमेरिका मे। भक्ति का सच्चा अर्थ क्या है, सच्चे भक्त का जीवन किस प्रकार का होना चाहिए तथा भक्तिमार्ग पर अधिक अधिक अग्रसर होने के लिए किन गुणो तथा साधनाओ की आवश्यकता है—आदि सब मौलिक बाते श्री स्वामीजी ने अपने भाषणों मे बड़े रोचक ढंग से बताई है।

श्री प. द्वारकानाथजी तिवारी, बी. ए., एल्. एल्. बी., दुर्ग, सी. पी. के हम परम कृतज्ञ है जिन्होने यह अनुवाद—कार्य अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति से किया है। यह अनुवाद विश्वसनीय है तथा इसमे मूल पुस्तक के भाव ज्यो के त्यो रहे है।

साहित्य शास्त्री प्रो. डॉ. विद्याभास्करजी शुक्ल, एम्. एस्. सी; पी. एच्. डी., पी. ई. एस्., कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर के हम परम कृतज्ञ है जिन्होने इस पुस्तक के सशोधन कार्य मे हमे बहुमूल्य सहायता दी है।

हमे विश्वास है कि इस पुस्तक द्वारा हिन्दी जनता का विशेष हित होगा।

नागपुर,
ता. १-१२-१९४६,

—प्रकाशक.

स्वामी विवेकानन्द

प्रेमयोग

१. पूर्व साधना

भक्त प्रह्लाद द्वारा दी हुई निम्नलिखित परिभाषा ही सम्भवतः भक्तियोग की सर्वोत्तम परिभाषा है।

या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥*

"हे ईश्वर ! अज्ञानी जनो को इन्द्रियो के भोग के नाशवान् पदार्थों पर जैसी गाढ़ी प्रीति रहती है उसी प्रकार की प्रीति हमारी तुझ मे हो और तेरा स्मरण करते हुए हमारे हृदय से वह सुख कभी दूर न होवे"

हम देखते है इन्द्रियभोग के पदार्थों से बढ़कर और किसी वस्तु को न जानने वाले लोग धन-धान्य, कपड़े-लत्ते, पुत्र-कलत्र, बंधु-बान्धव, तथा अन्यान्य सामग्रियो पर कैसी दृढ़ प्रीति रखते है: इन वस्तुओ के प्रति उनकी कैसी घोर आसक्ति रहती है !

* विष्णुपुराण. १-२०-१९

इसीलिए इस परिभाषा मे वे भक्त ऋषिराज कहते हैं "वैसी ही प्रबल आसक्ति, वैसी ही दृढ़ संलग्नता केवल तेरे प्रति मुझे रहे" ऐसी ही प्रीति जब ईश्वर के प्रति की जाती है तब वह "भक्ति" कहलाती है ! भक्ति किसी वस्तु का संहार नहीं करती वरन् भक्ति हमे यह सिखाती है कि हमे जो जो शक्तियाँ दी गई है उनमे से कोई भी निरर्थक नहीं है बल्कि उन्हीं के अन्तर्गत हमारी मुक्ति का स्वाभाविक मार्ग है। भक्ति न तो किसी वस्तु का निषेध करती है और न वह हमे प्रकृति के विरुद्ध ही चलाती है। भक्ति तो केवल हमारी प्रकृति को ऊँचा उठाती है और उसे अधिक शक्तिशाली प्रेरणा देती है। इन्द्रिय विषयो पर हमारी कैसी स्वाभाविक प्रीति हुआ करती है !! ऐसी प्रीति किये बिना हम रह ही नहीं सकते क्योंकि ये विषय, ये पदार्थ हमे बिलकुल सत्य प्रतीत होते है। साधारणतः हमे इनसे उच्चतर पदार्थों में कोई यथार्थता ही नहीं दिखाई देती; पर जब मनुष्य इन इन्द्रियो के परे–इन्द्रियो के संसार के उस पार–किसी यथार्थ वस्तु को देख पाता है तब वांछनीय यही है कि उस प्रीति को, उस आसक्ति को बनाये तो रखे, पर उस संसारिक विषय के पदार्थों से हटाकर उस इन्द्रियो के परे वस्तु अर्थात् परमेश्वर मे लगा दे। और जिस प्रकार का प्रेम इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों पर था उसी प्रकार का प्रेम भगवान् में लग जाने पर उसका नाम "भक्ति" हो जाता है। सन्त श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार उस उत्कट प्रेम की प्राप्ति के लिए नीचे लिखी साधनाये है।

प्रथम साधना है 'विवेक'। यह विशेषतः पाश्चात्यो की दृष्टि

मे विचित्र बात है। श्री रामानुजाचार्य के मत से इसका अर्थ है "आहारमीमासा" या "खाद्याखाद्य विचार"। हमारे शरीर और मन की शक्तियो का निर्माण करने वाली समग्र संजीवनी शक्तियाँ हमारे भोजन के भीतर ही रहती है। अभी जो कुछ मै हूँ वह सब इसके पूर्व मैने जो खाया उस भोजन सामग्री मे ही था। वह सब खाद्य पदार्थो द्वारा ही मेरे शरीर मे आया; उस मे संचित रहा और फिर नया रूप धारण किया। वस्तुतः मेरे शरीर मे और मेरे मन मे मेरे खाये हुए अन्न से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। जैसे भौतिक सृष्टि मे हम शक्ति और जड़ पदार्थ पाते है और यह शक्ति तथा जड़ पदार्थ हम मे मन और शरीर बन जाते है, ठीक उसी तरह यथार्थ मे देह और मन मे, और हमारे खाये हुए अन्न मे, केवल आकार या रूप का अंतर है। ऐसा होते हुए, जब हम अपने भोजन के जड़कणो द्वारा ही अपने विचार यन्त्र का निर्माण करते है और जब हम उन्हीं जड़कणो के अंतर्निहित सूक्ष्म शक्तियो द्वारा विचार का निर्माण करते है तब तो यह सहज ही सिद्ध होता है कि इस विचार और विचार-यंत्र दोनो पर ही हमारे खाये हुए अन्न का प्रभाव पड़ेगा।

विशेष प्रकार के आहार हमारे मन मे विशेष प्रकार के विकार उत्पन्न करते है यह हम प्रति दिन स्पष्ट रूप से देखते है। अन्य प्रकार के आहारो का शरीर पर अन्य प्रकार का परिणाम होता है और अन्त मे वह मन पर भी बहुत असर पहुँचाता है। इससे हम बहुत बड़ा पाठ यह सीखते है कि हम जिन दुःखो को भोग रहे है

उनका बहुतेरा अंश हमें हमारे खाये हुए भोजन द्वारा ही प्राप्त होता है। अधिक मात्रा मे तथा दुष्पाच्य पदार्थ खा लेने के उपरान्त आप देखते है कि मन को काबू मे रखना कितना कठिन हो जाता है; तब तो मन निरन्तर इधर उधर दौड़ा ही लगाया करता है। फिर ऐसे भी खाद्य पदार्थ है जो उत्तेजक होते है: ऐसे पदार्थों को खाने के बाद आप देखते है कि आप अपने मन को किसी प्रकार रोक ही नहीं सकते। यह मानी हुई बात है कि बहुत सी मात्रा में शराब पी लेने से या किसी अन्य नशीले पेय का व्यवहार कर लेने से मनुष्य अपने मनको नियंत्रण करने मे असमर्थ होजाता है; ऐसी अवस्था मे मन उसके काबू के बाहर होकर इतस्ततः भागने लगता है।

श्री रामानुजाचार्य हमे आहार के तीन दोषो से बचने के लिए कहते है। प्रथम तो जाति विचार अर्थात् आहार के स्वाभाविक गुण या किस्म की ओर ध्यान देना चाहिए। सभी उत्तेजक वस्तुओं का— उदाहरणार्थ मास आदि का परित्याग करना चाहिए। यह तो स्वभावतः ही अपवित्र वस्तु है अतः इसका त्याग उचित ही है; दूसरे का प्राण लेकर ही हमे मांस की प्राप्ति हो सकती है। हम तो क्षणमात्र के लिए स्वादसुख पाते हैं पर दूसरे जीवधारी को हमे यह क्षणिक स्वादसुख देने के लिए सदा के लिए अपने प्राणो से हाथ धोना पड़ता है। इतना ही नहीं, वरन् हम दूसरे मनुष्यों का भी नैतिक अध पतन करते है। अच्छा तो यह होता कि प्रत्येक मासाहारी मनुष्य स्वयं ही प्राणि-वध करता। पर इसके बदले होता क्या है? समाज अपने

लिए यह प्राणिवध कार्य मनुष्यो के एक विशेष वर्ग द्वारा कराता है और उस कार्य के करने के कारण ही उस वर्ग के मनुष्य को समाज घृणा की दृष्टि से देखता है। यहाँ का कानून तो मुझे नहीं मालूम पर इंगलैड मे कोई भी कसाई ज्यूरी मे सदस्य बनकर न्याय प्रदान का कार्य नहीं कर सकता, कारण कि कसाई प्रकृति से ही निर्दयी होता है। पर बताइये तो सही उसको निर्दयी बनाया किसने ? उसी समाज ने। यदि हम गोमास और छागमास न खावे तो ये कसाई होवे ही नहीं। मास भक्षण का अधिकार उन्ही मनुष्यो को है जो बहुत कठिन परिश्रम करते है और भक्त नहीं होना चाहते। पर यदि आप भक्त होना चाहते है तो आप को मास का त्याग करना चाहिए; वैसे ही सभी उत्तेजक भोजन—जैसे प्याज, लहसुन और सभी दुर्गंध युक्त पदार्थो जैसे सावर क्रौट* इत्यादि का त्याग करना चाहिए। कई दिनो का बना हुआ भोजन, प्रायः सड़ा हुआ अन्न जिसके स्वाभाविक रस सूख गये है या जिसमे दुर्गंध आगई है आदि खाद्य वस्तुओ का भी परित्याग करना आवश्यक है।

भोजन के सम्बन्ध मे दूसरा विषय है—आश्रय विचार। यह पाश्चात्यो के लिए और भी जटिल बात है। आश्रय का अर्थ है कि भोजन किस व्यक्ति के पास से मिला—इसका विचार। यह हिंदुओ का रहस्यमय सिद्धान्त है। इसमे तर्क शैली यह है कि प्रत्येक मनुष्य के आसपास एक प्रकार का वातावरण (aura) होता है और

* यह एक प्रकार की जर्मन देश की चटनी है। जो बंधी गोभी और लवणजल द्वारा बनती है।

जिस किसी वस्तु को वह छूता है उस वस्तु के साथ उस मनुष्य की प्रकृति या आचरण का कुछ अंश अथवा मानो कुछ प्रभाव रह जाता है। जैसे प्रत्येक मनुष्य के शरीर से उसके शरीर के सूक्ष्म परमाणु (effluvia) निकला करते है उसी तरह उसके आचरण या भाव भी उसके बाहर निकलते रहते है और जब कभी वह किसी वस्तु को छूता है तो उस वस्तु मे वे लग जाते है। अत. हमे इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि पकाते समय हमारे भोजन को किसने स्पर्श किया—किसी दुष्ट प्रकृति वाले या दुराचारी मनुष्य ने उस भोजन को स्पर्श तो नहीं किया। जो भक्त होना चाहता है वह दुष्ट प्रकृति के मनुष्यो के संग भोजन न करे क्योकि उनकी दुष्टता का प्रभाव भोजन द्वारा फैलता है।

तीसरी बात है निमित्तविचार। यह समझने मे बहुत सरल है। मैल और धूल इत्यादि भोजन मे न हों। ऐसा न हो कि बाजार से खाद्य पदार्थ ले आये और उन्हे बिना धोये ही थाली मे खाने के लिए परोस दिया। उन मे संसार भर का कूड़ाकर्कट और [illegible] भरी हुई है। मुख के लार थूंक इत्यादि वस्तुओ से हमे परह[illegible] करना चाहिए। जब परमात्मा ने हमे चीजो को धोने के लिए य[illegible] जल दे रखा है तो हमारी ओठो को छूने की और थूंक द्वारा हर ए[illegible] चीज को स्पर्श करने की आदत कैसी गंदी और भयानक है Mucous membrane अर्थात् द्रवोत्पादक या श्लैष्मिक झिल्ली हमा[illegible] शरीर का बड़ा नाजुक भाग है और इससे उत्पन्न लार इत्यादि के द्वार अनिष्ट प्रभावो का संक्रमण हो जाना बहुत ही सहज है। अतः इसक[illegible]

स्पर्श—दूषित ही नहीं—भयानक भी है। और भी किसी वस्तु का एक अंश किसी दूसरे ने खाकर छोड़ दिया हो उसे भी नही खाना चाहिए—जैसे किसीने एक सेव का टुकड़ा स्वयं काट खाया हो और बाकी दूसरे को दे दे। आहार मे इन वर्ज्य बातो का त्याग कर देने से आहार की शुद्धि होती है। आहार की शुद्धि से मन.शुद्धि और मनःशुद्धि से परमात्मा का सतत और निरन्तर स्मरण होता है।*

दूसरे टीकाकार श्रीशंकराचार्यजी ने इसका जो अर्थ लगाया है वह मै आपको बताता हूँ। संस्कृत भाषा मे "आहार" शब्द भोजन के लिए प्रयोग किया जाता है। "आहार" जिस धातु से बना है उसका अर्थ है एकत्र करना; ग्रहण करना; अत. आहार का अर्थ हुआ "जो कुछ एकत्रित किया गया या ग्रहण किया गया"। वे क्या अर्थ करते है? वे कहते है "जब भोजन शुद्ध है तब मन शुद्ध रहता है"। इसका ठीक अर्थ यह है कि हमे कुछ चीजो का वर्जन करना चाहिए ताकि हम इंद्रियो मे आसक्त न हो जावे। प्रथम तो आसक्ति के विषय मे हमे ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर आसक्ति न रहे। सब कुछ देखो, सब कुछ करो, सब कुछ छूओ पर किसी वस्तु मे आसक्त मत होओ। ज्योही यह अत्यन्त आसक्ति आई कि मनुष्य अपने आप को खो बैठता है; तदुपरान्त वह अपना स्वामी नहीं रह जाता, उसी क्षण वह दास या गुलाम बन जाता है। यदि किसी स्त्री की दृढ़ आसक्ति किसी पुरुष

---

* "आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

—छान्दोग्योपनिषद्—
७–२६

पर हुई तो वह स्त्री उस पुरुष का गुलाम बन जाती है या वह पुरुष उस स्त्री का गुलाम बन जाता है। गुलाम बनने मे कोई लाभ नहीं है। किसी मनुष्य के गुलाम बनने की अपेक्षा और अधिक अच्छी बाते इस संसार मे है। हर किसी से प्रेम करो, हर किसी की भलाई करो, पर किसी के गुलाम मत बनो; क्योंकि दास या गुलाम बनने से प्रथम तो हमारा व्यक्तिश: अध.पतन हो जाता है और दूसरे हम इससे अत्यंत स्वार्थी भी बन जाते है; इसी दोष के कारण हम जिन्हे प्यार करते है उनको लाभ पहुँचाने के लिए दूसरो को हानि पहुँचाते है। संसार मे अधिकांश दुष्कर्म व्यक्तिगत आसक्ति के कारण ही किये गये है। अत: ऐसी आसक्ति अर्थात् व्यक्तियो के प्रति आसक्ति का त्याग करके केवल सत्कर्मो के प्रति आसक्ति रखे और प्रत्येक व्यक्ति पर प्रेम करे।

फिर ईर्ष्या या द्वेष के विषय मे इन्द्रिय भोग के किसी पदार्थ को पाने के लिए ईर्ष्या या द्वेष नहीं करना चाहिए। यह ईर्ष्या, द्वेष ही सारे अनर्थो का मूल है और साथ ही अत्यन्त दुर्दमनीय भी है। फिर आता है मोह या भ्रम। हम सदा एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ बैठते है और उसी गलत भावना से कार्य करते है। फल यह होता है कि हम अपने ही ऊपर विपत्ति खींच लाते है। हम अनिष्ट को इष्ट समझकर ग्रहण करते है। जो कुछ हमारे स्नायुओ मे क्षण भर के लिए गुदगुदी पैदा कर दे उसे ही हम सर्वोत्तम वस्तु मान बैठते हैं, बाद मे उससे हमे जब ज़ोर से आघात पहुँचता है तब हमारी आँख खुलती है, पर तब तक बहुत

विलम्ब हो चुकता है। प्रतिदिन हम ऐसी ही भूल करते है और अपनी सारी जिन्दगी भर इसी भूल मे पड़े रहते है। जब इन्द्रियॉ बिना अत्यन्त आसक्ति के, ईर्ष्या-द्वेष रहित और मोह-भय रहित होकर इस संसार मे कार्य करती है तब उसी कार्य का नाम है "शुद्ध आहार"। यह शंकराचार्यजी का मत है। जब आहार शुद्ध है तभी मन पदार्थों को ग्रहण करने और उनके विषय मे अनासक्त और द्वेष-भय से रहित होकर विचार करने मे समर्थ हो सकता है। तभी मन शुद्ध होता है। और मन के शुद्ध होने पर ही उस मन मे ईश्वर की सतत स्मृति—अव्याहत स्मृति—निरन्तर जागृत रहती है।

अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति के लिए यही कहना स्वाभाविक होगा कि शंकराचार्यजी का अर्थ ही सब अर्थों मे श्रेष्ठ है, परन्तु फिर भी यहाँ पर एक बात मै और कह देना चाहता हूँ और वह यह कि हमे श्रीरामानुजाचार्य के अर्थ की भी अवहेलना नही करनी चाहिए। जब तुम आहार सामग्री की सावधानी रखोगे तभी और बाते हो सकेगी। यद्यपि यह सत्य है कि मन ही स्वामी है पर हम मे से कितने लोग इन्द्रियो के बंधन से मुक्त है? जड़ वस्तुओ से ही हम जकड़े हुए है और जब तक हमे जड़ वस्तुओ का बंधन है तब तक हमे जड़ वस्तुओ की सहायता लेनी चाहिए और उसके बाद जब हम शक्तिशाली बन जावेगे तब चाहे जो चीज़ खा सकेगे। अतः हमे अपने खाने पीने की चीज़ो के सम्बन्ध मे श्रीरामानुजाचार्य के आदर्श के अनुसार सावधानी रखनी चाहिए। साथ ही साथ अपने मानसिक आहार के विषय मे भी हमे सावधान रहना चाहिए। खाद्य पदार्थ के

विषय मे सतर्क रहना आसान है पर मानसिक साधना भी उसके साथ चली जावे तभी क्रमशः हमारी आत्मा की—हमारी धार्मिक प्रवृत्ति की—शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ेगी और शारीरिक वृत्तियों का साम्राज्य या भौतिक प्रवृत्ति की प्रबलता शिथिल होती जाएगी। तब ऐसा समय आजाएगा कि तुझे यह अनुभव होगा कि किसी भी प्रकार के भोजन से तुम्हारा अनिष्ट नहीं होता है। सब से बड़ा डर यही है कि प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि सर्वोच्च आदर्श को कूदकर पहुँच जाऊँ। पर यह ध्यान रहे कि कूदने का तरीका ठीक नहीं है। उससे तो हम गिरकर केवल हाथ पैर ही तोड़ लेगे। हम यहाँ बंधे हुए है और हमे धीरे धीरे अपने बंधन की जंजीर को तोड़ना है। इसी का नाम विवेक या "आहार मीमांसा" है।

उसके बाद विमोक्ष या "स्वतंत्रता" का विषय आता है। जो ईश्वर के प्रति प्रेम करना चाहता है उसे अपनी उत्कट अभिलाषाओ का त्याग करना चाहिए, ईश्वर को छोड़ अन्य किसी बात की कामना नहीं करनी चाहिए। यह संसार परलोक के मार्ग मे या परमार्थ प्राप्ति मे जहाँ तक सहायता देता है वहाँ तक तो ठीक है। हमे उच्चतर पदार्थों की प्राप्ति मे जहाँ तक इन्द्रिय विषय सहायता देते है वहाँ तक तो वे भी उचित है। पर हम यह भूल जाते है कि यह संसार किसी साध्य तत्त्व की प्राप्ति के लिए केवल साधन मात्र है; यह संसार ही इष्ट वस्तु या अन्तिम ध्येय नहीं है। यदि यह संसार ही अन्तिम ध्येय होता तो हम इस भौतिक शरीर मे ही अमर रहते और कभी न मरते। पर हम देखते हैं कि हमारे आसपास

प्रतिक्षण कितने ही मनुष्य मर रहे है और तिस पर भी हम मूर्खतावश यही समझते है कि हम कभी नही मरेंगे; और इसी विश्वास से यह निश्चय कर बैठे है कि यही जीवन अन्तिम लक्ष्य या आदर्श है। हम मे से ९९ प्रतिशत मनुष्यो की यही अवस्था है। हमे इस भाव का एकदम त्याग कर देना चाहिए। हमे पूर्ण बनाने मे जहाँ तक सहायक हो सके वहीं तक यह संसार ठीक है और ज्योही इस संसार से हमे ऐसी सहायता प्राप्त होना बन्द हुआ त्योंही यह संसार अनर्थ और निरा अनर्थ ही है। इसी तरह पति-पत्नी, पुत्र-कन्या, धन-दौलत, रुपये-पैसे, विद्वत्ता या पाण्डित्य जब तक हमे उन्नति के मार्ग मे सहायक है तभी तक वे हमारे लिए इष्ट है और जब उनसे ऐसी सहायता न मिले तब वे केवल अनिष्टकारक है। यदि पत्नी हमारे परमात्मा की ओर जाने मे सहायक हो तो वह सुपत्नी है: इसी तरह पति और सन्तति के सम्बन्ध मे भी जानो। यदि धन के द्वारा हम दूसरो की भलाई कर सकते है तब तो वह काम की चीज़ है। अन्यथा वह धन अनर्थ का घर है और जितने शीघ्र उससे हम अपना पिण्ड छुड़ा सके उतना ही अच्छा है।

तदुपरान्त अभ्यास—मन सदा परमात्मा की ही ओर जावे अन्य किसी वस्तु को हमारे मन मे प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं है। मन निरन्तर ईश्वर का ही विचार करे। यह यद्यपि कठिन है पर सतत अभ्यास से ऐसा हो सकता है। आज जो कुछ हम है वह हमारे पूर्व अभ्यास का परिणाम है और अब जैसा अभ्यास करेगे वैसे ही हम भविष्य मे बनेंगे। इसी से अब हमे दूसरी तरह का अभ्यास

की शुद्धि होगी और उसमे परमात्मा का निवास होगा। हमारे शास्त्रो मे पाच क्रियाओ का उल्लेख है जिन्हें पंचविध पूजा या पंचमहायज्ञ कहते हैं।

प्रथम है 'स्वाध्याय'। मनुष्य को प्रतिदिन कुछ पवित्र और शुभ अध्ययन करना चाहिए।

दूसरा है 'देवयज्ञ'—ईश्वर, देवता या साधुसंत की उपासना।

तीसरा है 'पितृयज्ञ'—अपने पितरो के प्रति कर्तव्य।

चौथा है 'मनुष्य यज्ञ' अर्थात् मानव जाति के प्रति हमारा कर्तव्य। जब तक दीन या गृहहीन निराश्रितो के लिए घर न बनवा देवे तब तक मनुष्य को स्वयं घर मे रहने का कोई अधिकार नहीं है। गृहस्थ का घर प्रत्येक दीन और दुःखी के लिए सदा खुला रहना चाहिए, तभी वह सच्चा गृहस्थ है। यदि कोई गृहस्थ यह समझता है कि मै और मेरी पत्नी ये ही दो व्यक्ति संसार मे है और केवल अपने और अपनी पत्नी के भोग के लिए ही वह घर बनाता है तो वह "ईश्वर का प्रेमी" कदापि नहीं हो सकता। यह उसका अत्यन्त स्वार्थी कार्य है। केवल अपनी ही उदरपूर्ति के लिए भोजन पकाने का किसी मनुष्य को अधिकार नहीं है। दूसरो को खिलाने के बाद जो बच रहे उसी को खाना चाहिए। भारतवर्ष में ऐसी साधारण प्रथा है कि जब किसी ऋतु का फल-आम, जामुन इत्यादि—पहिले पहल बाजार में आता है तो कुछ फल खरीदकर पहिले गरिबो को दे देते है और फिर उसे स्वयं खाते हैं। इस उत्तम प्रथा का अनुकरण करना इस देश (अमेरिका) में अच्छा होगा। ऐसे व्यवहार से मनुष्य स्वयं निःस्वार्थ बन जाएगा और अपनी पत्नी

और बच्चो को भी उत्तम शिक्षा प्रदान करेगा।

प्राचीन काल मे हीब्रु जाति के लोग पहली फसल के फलो को ईश्वर को अर्पण किया करते थे। प्रत्येक पदार्थ का प्रथम भाग दीनो को देना चाहिए। अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। दीन ही परमात्मा के स्वरूप (प्रतिनिधि) है। दुःखी ही ईश्वर का रूप है। जो मनुष्य बिना दिए खाता है और ऐसे खाने मे सुख मानता है वह पाप का भागी होता है।

पाँचवी क्रिया है 'भूतयज्ञ' या मनुष्य की अपेक्षा नीचे योनिवाले प्राणियो के प्रति हमारा कर्तव्य। समस्त जीवधारी मनुष्य के लिए ही बनाए गये है; यह मानना कि इन प्राणियो की हत्या करके मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करे तथा इसी लिए इन प्राणियो का निर्माण हुआ है, निरी पैशाचिक भावना है। यह शैतान का शास्त्र है, भगवान् का नहीं। शरीर के किसी अंग का अमुक भाग हिलता है कि नहीं यह देखने के लिए जीवधारियो को उठाकर काट डालना कैसा घृणित कार्य है—विचारो तो सही। मुझे खुशी है कि हिन्दू लोग ऐसी बाते गवारा नहीं कर सकते चाहे उन्हे अपने शासक विदेशी सरकार से इसके लिए कैसा भी प्रोत्साहन क्यो न मिले।

हम जो अन्न खाते है उसके एक अंश पर अन्य जीवधारियो का भी अधिकार है। उन्हे भी प्रति दिन खिलाना चाहिए। प्रत्येक नगर मे इन दीन लंगडे या अंधे घोड़े, बिल्ली, कुत्ते और गायबैल इत्यादि पशुओ के लिए अस्पताल रहना चाहिए। वहाँ इनको खिलाया जावे और इनकी शुश्रूषा की जावे।

की शुद्धि होगी और उसमे परमात्मा का निवास होगा। हमारे शास्त्रों मे पाञ्च क्रियाओं का उल्लेख है जिन्हे पंचविध पूजा या पंचमहायज्ञ कहते हैं।

प्रथम है 'स्वाध्याय'। मनुष्य को प्रतिदिन कुछ पवित्र और शुभ अध्ययन करना चाहिए।

दूसरा है 'देवयज्ञ'—ईश्वर, देवता या साधुसंत की उपासना।

तीसरा है 'पितृयज्ञ'—अपने पितरो के प्रति कर्तव्य।

चौथा है 'मनुष्य यज्ञ' अर्थात् मानव जाति के प्रति हमारा कर्तव्य। जब तक दीन या गृहहीन निराश्रितो के लिए घर न बनवा देवे तब तक मनुष्य को स्वयं घर मे रहने का कोई अधिकार नहीं है। गृहस्थ का घर प्रत्येक दीन और दु:खी के लिए सदा खुला रहना चाहिए, तभी वह सच्चा गृहस्थ है। यदि कोई गृहस्थ यह समझता है कि मै और मेरी पत्नी ये ही दो व्यक्ति संसार मे है और केवल अपने और अपनी पत्नी के भोग के लिए ही वह घर बनाता है तो वह "ईश्वर का प्रेमी" कदापि नहीं हो सकता। यह उसका अत्यन्त स्वार्थी कार्य है। केवल अपनी ही उदरपूर्ति के लिए भोजन पकाने का किसी मनुष्य को अधिकार नही है। दूसरो को खिलाने के बाद जो बच रहे उसी को खाना चाहिए। भारतवर्ष मे ऐसी साधारण प्रथा है कि जब किसी ऋतु का फल-आम, जामुन इत्यादि—पहिले पहल बाजार में आता है तो कुछ फल खरीदकर पहिले गरिबो को दे देते है और फिर उसे स्वयं खाते है। इस उत्तम प्रथा का अनुकरण करना इस देश (अमेरिका) में अच्छा होगा। ऐसे व्यवहार से मनुष्य स्वयं नि:स्वार्थ बन जाएगा और अपनी पत्नी

और बच्चो को भी उत्तम शिक्षा प्रदान करेगा।

प्राचीन काल मे हीब्रु जाति के लोग पहली फसल के फलो को ईश्वर को अर्पण किया करते थे। प्रत्येक पदार्थ का प्रथम भाग दीनो को देना चाहिए। अवशिष्ट भाग पर ही हमारा अधिकार है। दीन ही परमात्मा के स्वरूप (प्रतिनिधि) है। दुःखी ही ईश्वर का रूप है। जो मनुष्य बिना दिए खाता है और ऐसे खाने मे सुख मानता है वह पाप का भागी होता है।

पॉचवी क्रिया है 'भूतयज्ञ' या मनुष्य की अपेक्षा नीचे योनिवाले प्राणियो के प्रति हमारा कर्तव्य। समस्त जीवधारी मनुष्य के लिए ही बनाए गये है; यह मानना कि इन प्राणियो की हत्या करके मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग करे तथा इसी लिए इन प्राणियो का निर्माण हुआ है, निरी पैशाचिक भावना है। यह शैतान का शास्त्र है, भगवान् का नहीं। शरीर के किसी अंग का अमुक भाग हिलता है कि नहीं यह देखने के लिए जीवधारियो को उठाकर काट डालना कैसा घृणित कार्य है—विचारो तो सही। मुझे खुशी है कि हिन्दू लोग ऐसी बाते गवारा नहीं कर सकते चाहे उन्हे अपने शासक विदेशी सरकार से इसके लिए कैसा भी प्रोत्साहन क्यो न मिले।

हम जो अन्न खाते है उसके एक अंश पर अन्य जीवधारियो का भी अधिकार है। उन्हे भी प्रति दिन खिलाना चाहिए। प्रत्येक नगर मे इन दीन लंगड़े या अंधे घोड़े, बिल्ली, कुत्ते और गायबैल इत्यादि पशुओ के लिए अस्पताल रहना चाहिए। वहॉ इनको खिलाया जावे और इनकी शुश्रूषा की जावे।

इसके बाद की साधना है 'कल्याण' या पवित्रता जिसके अन्तर्गत कई बाते हैः—

प्रथम—'सत्यम्' या सत्यता। जो सत्यनिष्ठ है सत्यरूपी ईश्वर उनके समीप आता है। अतएव हमारे विचार, वाणी और कार्य सभी पूर्ण तथा सत्य होने चाहिए।

द्वितीय—'आर्जव'–निष्कपट भाव या सरलता। इस शब्द का अर्थ है सादगी, हृदय में कुटिलता या टेढ़ापन न हो, 'हृदय आन, मुख आन' का व्यवहार न हो। यदि कुछ कड़ा या अप्रिय भी होना पड़े तो भी सीधे चलना चाहिए, टेढ़ापन काम में नही लाना चाहिए।

"दया"—करुणा या सहानुभूति।

"अहिंसा"—मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को हानि न पहुँचाना।

"दान"—दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। सब से नीच मनुष्य वह है जिसका हाथ सदा अपनी ओर रहता है और जो अपने लिए ही सब पदार्थों को लेने मे लगा हो। और सब से उत्तम पुरुष वह है जिसका हाथ बाहर की ओर है तथा दूसरो को देने मे लगा है। हाथ इसीलिए बनाया गया है कि सदा दान देते रहो। तुम स्वयं भूखे रहकर भी अपने पास का रोटी का आन्तिम टुकड़ा–अन्न का आन्तिम ग्रास–तक भी दे डालो। यदि दूसरो को देते देते उपवास से तुह्मारी मृत्यु भी हो जाय तो क्षणभर मे ही तुम मुक्त हो जाओगे; तत्क्षण तुम पूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण तुम ईश्वर हो जाओगे। जिन मनुष्यो के बालबच्चे है, जिनके गले ये बालबच्चे

पड़े है वे मनुष्य तो बद्ध है ही। वे दान नही कर सकते। वे बालबच्चो का सुख भोगना चाहते है अतः उन्हे उन लोगो का मूल्य देना पड़ता है। क्या संसार मे पर्याप्त बालबच्चे नही है? यह निरी स्वार्थ बुद्धि है कि मेरा भी एक बच्चा हो*।

इसके बाद की साधना है "अनवसाद"। इसका शब्दार्थ है, हताश न होना, निराश न होना अर्थात् प्रसन्नता। उदास रहना कदापि धर्म नहीं है, चाहे वह और कुछ भले ही हो। प्रसन्न रहने से और हॅसमुख रहने से तुम ईश्वर के समीप पहुँच जाओगे। प्रार्थना की अपेक्षा प्रसन्नता के द्वारा हम ईश्वर के अधिक निकट पहुँच सकते है। ग्लानिपूर्ण या उदास मन से प्रेम कैसे हो सकता है? यदि ऐसे मनवाले लोग प्रेम करने की बात करे तो वह मिथ्या है। वे तो दूसरो को कष्ट देना चाहते है। धर्मान्धो (या कट्टरपंथियो) की ही बात सोचिए। ऐसे लोग मुखमुद्रा तो बड़ी गंभीर बनाते है पर उनका सारा धर्म वाणी द्वारा और कार्यों द्वारा प्रायः दूसरो के साथ लड़ाई करते रहना ही होता है। उनके कार्यों का भूतकाल का इतिहास देखिए और सोचिए कि यदि उन्हे स्वतंत्रता दे दी जावे तो अभी वे क्या कर डालेगे। सारे संसार को यदि

*रामानुजाचार्य ने एक और साधना "अनभिध्या" का उल्लेख किया है। अनभिध्या का अर्थ है दूसरो की वस्तु पर लोभ नही करना, व्यर्थ या अभिमानपूर्ण विचार न करना, और दूसरों द्वारा अपनी जो हानि हुई हो उसको सोचते न रहना। अनभिध्या से वह शुद्धता प्राप्त होती है जिसकी गणना "कल्याण" के अंतर्गत गुणो मे श्री स्वामी विवेकानंद जी ने अन्यत्र की है (देखो-भक्तियोग-उपाय और साधन शीर्षक अध्याय)।

इसके बाद की साधना है 'कल्याण' या पवित्रता जिसके अन्तर्गत कई बाते हैं:—

प्रथम—'सत्यम्' या सत्यता। जो सत्यनिष्ट हैं सत्यरूपी ईश्वर उनके समीप आता है। अतएव हमारे विचार, वाणी और कार्य सभी पूर्ण तथा सत्य होने चाहिए।

द्वितीय—'आर्जव'—निष्कपट भाव या सरलता। इस शब्द का अर्थ है सादगी, हृदय में कुटिलता या टेढ़ापन न हो, 'हृदय आन, मुख आन' का व्यवहार न हो। यदि कुछ कड़ा या अप्रिय भी होना पड़े तो भी सीधे चलना चाहिए, टेढ़ापन काम मे नही लाना चाहिए।

"दया"—करुणा या सहानुभूति।

"अहिंसा"—मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को हानि न पहुँचाना।

"दान"—दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। सब से नीच मनुष्य वह है जिसका हाथ सदा अपनी ओर रहता है और जो अपने लिए ही सब पदार्थों को लेने मे लगा हो। और सब से उत्तम पुरुष वह है जिसका हाथ बाहर की ओर है तथा दूसरो को देने मे लगा है। हाथ इसीलिए बनाया गया है कि सदा दान देते रहो। तुम स्वयं भूखे रहकर भी अपने पास का रोटी का अन्तिम टुकड़ा—अन्न का अन्तिम ग्रास—तक भी दे डालो। यदि दूसरो को देते देते उपवास से तुह्मारी मृत्यु भी हो जाय तो क्षणभर मे ही तुम मुक्त हो जाओगे; तत्क्षण तुम पूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण तुम ईश्वर हो जाओगे। जिन मनुष्यो के बालबच्चे है, जिनके गले ये बालबच्चे

२. प्रथम सोपान या भक्ति की प्रथम सीढ़ी

भक्ति के विषय मे लिखने वाले तत्ववेत्ता भक्ति की व्याख्या "ईश्वर के प्रति परम अनुराग" करते है। पर प्रश्न यह है कि मनुष्य ईश्वर पर प्रेम या अनुराग क्यो करे। जब तक हम यह बात न समझ लें तब तक भक्ति के विषय मे हमे कुछ भी बोध नहीं हो सकता। जीवन के बिलकुल भिन्न भिन्न प्रकार के दो आदर्श है। सभी देशो के मनुष्य, चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हो, यह जानते है कि मनुष्य देह भी है और आत्मा भी। पर मनुष्य-जीवन के अन्तिम साध्य या उद्देश्य के सम्बन्ध मे बहुत मत भेद हैं। पाश्चात्य देशो मे साधारणतः मनुष्य के भौतिक स्वरूप पर बहुत ज़ोर दिया जाता है और भारत के भक्ति विषय के आचार्यगण मनुष्य के आध्यात्मिक स्वरूप पर ज़ोर देते हैं। यही अंतर पूर्वी और पश्चिमी राष्ट्रो के स्वभावगत भेद का निदर्शक है। साधारण बोलचाल मे भी यही बात देखने मे आती है। इंगलैंड मे मृत्यु के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि मनुष्य ने आत्मा का त्याग किया (a man gives up his ghost) और हिंदुस्तान मे कहते है कि मनुष्य ने देह का त्याग किया (a man gives up his body)। प्रथम पक्ष (पाश्चात्यो) का भाव यह है कि मनुष्य एक देह है और उसमे आत्मा होती है। द्वितीय पक्ष (पौर्वात्यों) का यह भाव है कि मनुष्य आत्मा है और उसके देह होती है। इस मतभेद से कई जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि जिस देश मे यह

खून की नदी मे डुबा देने से उन्हे कोई अधिकार प्राप्त होता हो तो वे कल ही ऐसा कर डालेंगे, क्योंकि तिमिराच्छन्न अवसाद ही उनका ईश्वर है। ऐसी भीषणता की आराधना करने और गंभीर मुख मुद्रा बनाए रहने के कारण उनके हृदय मे प्रेम का नामोनिशान तक नहीं रह पाता और उन्हे किसी पर दया नहीं आती। अतः जो मनुष्य सदा अपने को दुःखी मानता है उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। "मै कितना दुःखी हूँ" ऐसा सोचते रहना आसुरी भावना है, धर्म नहीं। हर मनुष्य को अपना अपना बोझ ढोना है। यदि तुम दुःखी हो तो सुखी बनने का प्रयत्न करो, अपने दुःखो पर विजय प्राप्त करो। दुर्बलो को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। अतः दुर्बल कदापि न बनो। तुम्हारे अंदर असीम शक्ति है, तुम्हे शक्तिशाली बनना चाहिए। अन्यथा तुम किसी भी वस्तु पर विजय कैसे प्राप्त करोगे? शक्तिशाली हुए बिना तुम ईश्वर को कैसे प्राप्त कर सकोगे? साथ ही साथ अतिशय हर्ष अर्थात् हर्षोद्रेक या उद्धर्ष से भी बचे रहो। अत्यन्त हर्ष की अवस्था में भी मन कभी शान्त नहीं रह सकता, मन में चंचलता आ जाती है। और अति हर्ष के बाद सदा दुःख ही आता है। हँसी और आँसू का घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य बहुधा एक अतिरेक से दूसरे अतिरेक की ओर दौड़ पड़ता है। चित्त सदा प्रसन्न रहे पर शान्त हो। उसे अतिशयिता की ओर कदापि भागने नहीं देना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक अतिशयिता का परिणाम उलटा ही होता है।

ये ही श्रीरामानुजाचार्यजी के मतानुसार भक्ति की साधनाएँ है।

प्रेम को प्रेम कहना अधर्म होगा। अपने बच्चो और अपनी स्त्री
जो हमारा प्रेम होता है वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम
नि:स्वार्थ हो वही प्रेम प्रेम है और वह सचमुच ईश्वर का प्रेम
प्रेम को प्राप्त करना बड़ी कठिन बात है। हम इन भिन्न
दम्पत्ति-प्रेम, पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम—इत्यादि के मार्ग मे से जा
प्रेम की प्रवृत्ति का धीरे धीरे अभ्यास कर रहे है पर
म कुछ सीख नही पाते; बल्कि बहुधा किसी एक ही
ही व्यक्ति से, आसक्त हो जाते या बॅध जाते है।
य इस बंधन से छूट भी जाते है। इस संसार मे
ो के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ते फिरते
उन्हे ऐसी ज़बरदस्त ठोकर लगती है कि उनकी
है और उन्हे प्रतीत हो जाता है कि यह संसार

खून की नदी मे डुबा देने से उन्हे कोई अधिकार प्राप्त होता हो तो वे कल ही ऐसा कर डालेगे, क्योंकि तिमिराच्छन्न अवसाद ही उनका ईश्वर है। ऐसी भीषणता की आराधना करने और गंभीर मुख मुद्रा बनाए रहने के कारण उनके हृदय मे प्रेम का नामोनिशान तक नहीं रह पाता और उन्हे किसी पर दया नहीं आती। अतः जो मनुष्य सदा अपने को दुःखी मानता है उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। "मै कितना दुःखी हूँ" ऐसा सोचते रहना आसुरी भावना है, धर्म नहीं। हर मनुष्य को अपना अपना बोझ ढोना है। यदि तुम दुःखी हो तो सुखी बनने का प्रयत्न करो, अपने दुःखो पर विजय प्राप्त करो। दुर्बलो को ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। अतः दुर्बल कदापि न बनो। तुम्हारे अंदर असीम शक्ति है, तुम्हे शक्तिशाली बनना चाहिए। अन्यथा तुम किसी भी वस्तु पर विजय कैसे प्राप्त करोगे? शक्तिशाली हुए बिना तुम ईश्वर को कैसे प्राप्त कर सकोगे? साथ ही साथ अतिशय हर्ष अर्थात् हर्षोद्रेक या उद्धर्ष से भी बचे रहो। अत्यन्त हर्ष की अवस्था मे भी मन कभी शान्त नहीं रह सकता, मन में चंचलता आ जाती है। और अति हर्ष के बाद सदा दुःख ही आता है। हँसी और आँसू का घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य बहुधा एक अतिरेक से दूसरे अतिरेक की ओर दौड़ पड़ता है। चित्त सदा प्रसन्न रहे पर शान्त हो। उसे अतिशयिता की ओर कदापि भागने नहीं देना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक अतिशयिता का परिणाम उलटा ही होता है।

ये ही श्रीरामानुजाचार्यजी के मतानुसार भक्ति की साधनाएँ है।

प्राप्ति होगी। केवल यही नहीं। यदि मनुष्य को इन इन्द्रिय विषय-भोगो के सिवाय और कुछ नहीं मिलना है तो उसकी दशा बड़ी दुखदाई और भयानक है। हम प्रतिदिन अपने जीवन मे देखते है कि मनुष्य के इन्द्रिय विषय भोग की मात्रा जितनी ही कम हो उतना ही उसका जीवन उच्चतर होता है। जब कुत्ता भोजन करता है तब उसकी ओर देखिए। भोजन करने से वैसा संतोष मनुष्य को नहीं प्राप्त होता। शूकर की ओर देखिए। खाते खाते कैसी हर्ष ध्वनि करता है। ऐसा कोई मनुष्य-प्राणी उत्पन्न नहीं हुआ जिसे भोजन करने मे उतना आनन्द आवे। नीच श्रेणी के प्राणियो की श्रवण शक्ति का विचार कीजिए। उनकी अवलोकन शक्ति के विषय मे सोचिए। उनकी समस्त इन्द्रिया कैसी उन्नत अवस्था को पहुँची हुई होती है। उनके इन्द्रिय सुख की मात्रा असीम होती है। वे इस इन्द्रिय सुख भोग से हर्ष और आनंद मे बिलकुल उन्मत्त हो जाते है। मनुष्य भी जितनी ही नीची श्रेणी मे होगा उतना ही अधिक आनन्द उसे इन्द्रिय विषयो मे आएगा। मनुष्य जैसे जैसे उन्नति करता जायगा वैसे वैसे विवेक और प्रेम उसके जीवन के आदर्श बनते जाएंगे। उसकी इन प्रवृत्तियो का जैसे जैसे विकास होता जायगा वैसे वैसे उसकी इन्द्रिय विषयो में आनन्द अनुभव करने की शक्ति क्षीण होती जायगी। उदाहरण के लिए देखिए। यदि हम मान ले कि मनुष्य को अमुक परिमाण में शक्ति दी गई और उस शक्ति का व्यय वह अपने शरीर, मन या आत्मा के लिए कर सकता है, तो इन मे से यदि वह किसी एक विभाग मे अपनी सब शक्ति व्यय कर दे तो बाकी विभागो मे व्यय करने के लिए उनके

आदर्श है कि मनुष्य शरीर है और उसकी आत्मा होती है वहाँ शरीर पर ही सब ज़ोर दिया जाता है। यदि उनसे पूछो कि मनुष्य किस लिए जीता है तो उत्तर यही मिलेगा कि इन्द्रियों का सुख भोगने के लिए; धन-दौलत, आप्त-बंधु और ऐहिक पदार्थों का उपयोग करने के लिए। यदि तुम उसे यह बताओगे कि इनसे भी परे कोई वस्तु है तो वह उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। भविष्य जीवन या परलोक विषयक उसकी केवल यही धारणा है कि यह सुख भोग सतत बना रहे। उसे बड़ा दुःख इस बात का है कि इसी लोक में वह सदा इस इंद्रिय सुखभोग मे रह नहीं सकता और उसे इस लोक को छोड़कर जाना पड़ता है। पर वह तो यही समझता है कि चाहे जिस तरह भी हो वह एक ऐसे स्थान मे जावेगा जहाँ उसे यही इन्द्रिय सुख भोग पुन. प्राप्त होगा। वहाँ उसे ये ही सब इन्द्रियाँ प्राप्त होगी, ये ही सब सुखभोग उसे मिलेगे पर वहाँ ये सब चीजें उच्च श्रेणी की होगी और अधिक मात्रा मे मिलेंगी। वह ईश्वर की पूजा इसी लिए करता है कि ईश्व उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। उसके जीव का लक्ष्य है इंद्रिय विषय भोग और वह यह समझता है कि ईश्व एक ऐसा व्यक्ति है जो अत्यधिक काल तक उसे यह विषय भो दे सकता है। इसी कारण वह ईश्वर की पूजा या उपासना करत है। इसके विपरीत भारतवासियो की कल्पना यह है कि ईश्व ही जीवन का लक्ष्य है। ईश्वर से परे या ईश्वर से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इन सब इंद्रिय सुख भोगों के मार्ग के भीतर से हम केवल इस आशा से चले जा रहे हैं कि हमें आगे इनसे उच्चतर वस्तुओं की

प्राप्ति होगी। केवल यही नही। यदि मनुष्य को इन इन्द्रिय विषय-भोगो के सिवाय और कुछ नहीं मिलना है तो उसकी दशा बड़ी दुखदाई और भयानक है। हम प्रतिदिन अपने जीवन मे देखते है कि मनुष्य के इन्द्रिय विषय भोग की मात्रा जितनी ही कम हो उतना ही उसका जीवन उच्चतर होता है। जब कुत्ता भोजन करता है तब उसकी ओर देखिए। भोजन करने से वैसा संतोष मनुष्य को नहीं प्राप्त होता। शूकर की ओर देखिए। खाते खाते कैसी हर्ष ध्वनि करता है। ऐसा कोई मनुष्य-प्राणी उत्पन्न नहीं हुआ जिसे भोजन करने मे उतना आनन्द आवे। नीच श्रेणी के प्राणियो की श्रवण शक्ति का विचार कीजिए। उनकी अवलोकन शक्ति के विषय मे सोचिए। उनकी समस्त इन्द्रिया कैसी उन्नत अवस्था को पहुँची हुई होती है। उनके इन्द्रिय सुख की मात्रा असीम होती है। वे इस इन्द्रिय सुख भोग से हर्ष और आनंद मे बिलकुल उन्मत्त हो जाते है। मनुष्य भी जितनी ही नीची श्रेणी मे होगा उतना ही अधिक आनन्द उसे इन्द्रिय विषयो मे आएगा। मनुष्य जैसे जैसे उन्नति करता जायगा वैसे वैसे विवेक और प्रेम उसके जीवन के आदर्श बनते जाएंगे। उसकी इन प्रवृत्तियो का जैसे जैसे विकास होता जायगा वैसे वैसे उसकी इन्द्रिय विषयो में आनन्द अनुभव करने की शक्ति क्षीण होती जायगी। उदाहरण के लिए देखिए। यदि हम मान ले कि मनुष्य को अमुक परिमाण में शक्ति दी गई और उस शक्ति का व्यय वह अपने शरीर, मन या आत्मा के लिए कर सकता है, तो इन मे से यदि वह किसी एक विभाग में अपनी सब शक्ति व्यय कर दे तो बाकी विभागो मे व्यय करने के लिए उसके पास

उतनी ही कम मात्रा मे शक्ति शेष रह जायगी। सभ्य जातियो की अपेक्षा अज्ञानी या जंगली जातियो की इन्द्रिय शक्ति अधिक तेज़ होती है। यथार्थ मे इतिहास से हम एक यह भी शिक्षा ग्रहण करते है कि जैसे जैसे राष्ट्र सभ्य होता जाता है वैसे वैसे उसकी स्नायु शक्ति (मस्तिष्क शक्ति) तो तेज़ होती जाती है पर शारीरिक दुर्बलता बढ़ती जाती है। किसी जंगली जाति को सभ्य बनाओ और यही बात तुम्हे दिखाई देगी। अन्य जंगली जाति इस पर चढ़ाई करके इसे जीत लेगी। प्रायः सदा जंगली जाति ही विजयी होती है। इस से हम देख सकते है कि यदि हमे सर्वदा इन्द्रियों के विषय भोग के सुख की ही इच्छा है तो हम अपने को पशु की अवस्था मे गिरा देगे। जब मनुष्य यह कहता है कि मै ऐसे स्थान मे जाऊंगा जहाँ इन्द्रियों के सुखोपभोग की वृद्धि हो तब वह यह नहीं समझता कि मै यह क्या माँग रहा हूँ—मैं किस बात की इच्छा कर रहा हूँ। ऐसी अवस्था तो उसे नरदेह त्याग कर पशुयोनि मे पतित होने से ही मिल सकती है। शूकर को यह भावना कभी होती ही नहीं कि वह मैला खा रहा हैं। मल भक्षण ही उसका स्वर्ग है। यदि स्वर्ग के देवता भी उसे दर्शन देने आवे तो उनकी ओर वह लौट कर देखेगा तक नहीं, क्योंकि उसका सारा अस्तित्व तो उसके खाने मे ही समाया है।

इन्द्रियविषयक सुखों से परिपूर्ण स्वर्ग की कामना करने वाले मनुष्य भी उसी प्रकार हैं। वे शूकर की तरह इन्द्रिय विषयो की कीचड़ में लोट रहे है। उसके परे वे और कुछ देख ही नहीं सकते।

यही इन्द्रिय भोग वे चाहते है और इसका छूटना ही उनके लिए स्वर्ग का खोना है। भक्त शब्द का अत्युच्च अर्थ मे प्रयोग करते हुए यही कहना पड़ेगा कि ऐसे मनुष्य भक्त कभी नहीं हो सकते। ये मनुष्य ईश्वर के सच्चे प्रेमी कदापि नही बन सकते। फिर भी यदि इस निम्न श्रेणी का आदर्श थोड़े ही समय के लिए रहे तो समय पा कर यह आदर्श बदल जायगा। हर एक मनुष्य यह समझने लगेगा कि इससे भी कोई उच्चतर वस्तु है जिसका ज्ञान उसे पहले नहीं था। और इस प्रकार तब जीवन के प्रति और इन्द्रिय विपयो पर की उसकी आसक्ति क्रमशः नष्ट हो जावेगी। जब मै छोटा था और पाठशाला मे पढ़ता था उस समय मेरे एक सहपाठी से मिठाई या ऐसी ही किसी अन्य वस्तु के लिए झगड़ा हो गया। वह लड़का अधिक बलवान था इसलिए उसने वह वस्तु मेरे हाथ से छीन ली। उस समय मेरे मन मे जो भाव आया सो मुझे अभी भी स्मरण है। मै सोचने लगा इस लड़के के समान दुष्ट संसार मे दूसरा कोई नहीं है और जब मुझ में ताकत आ जाएगी तब मै इस दुष्ट को दण्ड दूँगा; इस की दुष्टता को देखते हुए कोई भी दण्ड इसके लिए पर्याप्त नहीं है। अब हम दोनो बड़े हो गए है और हम दोनो परम मित्र बन गए है। इसी तरह इस संसार मे सर्वत्र छोटे छोटे बच्चे ही भरे पड़े है। खाने पीने और अन्य इंद्रियों के भोग्य वस्तुएं ही इन बच्चो का सर्वस्व है। इन वस्तुओ के एक टुकड़े का भी खोना इन को कष्टप्रद प्रतीत होता है। ये बच्चे केवल रोटी, पूरी या मालपूआ का ही स्वप्न देखा करते हैं। भविष्य जीवन या परलोक विपयक उनकी कल्पना भी यही है कि वहां पूरी-

मालपूआ का ढेर लगा रहेगा। अमेरिकन इंडियन को देखो। वह यही सोचता है कि परलोक मे उसे शिकार की सामग्री बहुत मिलेगी और उसी से उसका भविष्य जीवन सुखमय बनेगा। हर किसी को अपनी अपनी वासना के अनुसार ही स्वर्ग की कल्पना रहा करती है। पर कालान्तर मे जैसे जैसे हम बड़े होते जाते है, हम उच्चतर वस्तुओ को देखते जाते है और इन सब के परे और भी उच्चतर दृश्यो के आभास हमे प्राप्त होते है।

आधुनिक काल की साधारण प्रथा के अनुसार सभी वस्तुओ के प्रति अविश्वास करके हमे परलोक विषयक सभी धारणाओ का त्याग नहीं करना चाहिए। इस तरह हर बात को उड़ा देना नाश या संहार का लक्षण है। नास्तिक जो सभी बातो को उड़ा देता है वह भूला हुआ है। पर भक्त तो इससे और ऊँचा देखता है। नास्तिक स्वर्ग जाना नहीं चाहता क्योकि वह तो स्वर्ग को मानता ही नहीं। पर भगवद्भक्त भी स्वर्ग जाना नहीं चाहता क्योकि उस की दृष्टि मे स्वर्ग बच्चो का खिलौना मात्र है। भगवद्भक्त तो चाहता है केवल ईश्वर को। ईश्वर से बढ़कर साध्य आदर्श या लक्ष्य और हो ही क्या सकता है? स्वयं परमात्मा ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। उसी ईश्वर का दर्शन करो। उसी ईश्वर का आनन्द लूटो। हम ईश्वर से बढ़ कर अन्य किसी उच्च वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते क्योकि ईश्वर ही पूर्ण स्वरूप है। हम प्रेम से बढ़कर सुख या आनन्द की कल्पना नहीं कर सकते। पर इस "प्रेम" शब्द के कई अर्थ है। इसका अर्थ संसार का साधारण स्वार्थमय प्रेम नहीं है, इस

संसारी प्रेम को प्रेम कहना अधर्म होगा। अपने बच्चो और अपनी स्त्री के प्रति जो हमारा प्रेम होता है वह केवल पाशविक प्रेम है। जो प्रेम पूर्णतया निःस्वार्थ हो वही प्रेम प्रेम है और वह सचमुच ईश्वर का प्रेम है। उस प्रेम को प्राप्त करना बड़ी कठिन बात है। हम इन भिन्न भिन्न प्रेम—सम्पत्ति-प्रेम, पितृ-प्रेम, मातृ-प्रेम—इत्यादि के मार्ग मे से जा रहे है। हम प्रेम की प्रवृत्ति का धीरे धीरे अभ्यास कर रहे है पर वहुधा इससे हम कुछ सीख नही पाते; वल्कि बहुधा किसी एक ही सीढ़ी पर, एक ही व्यक्ति से, आसक्त हो जाते या बँध जाते है। कभी कभी मनुष्य इस बंधन से छूट भी जाते है। इस संसार मे मनुष्य सदा स्त्रियो के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ते फिरते है। कभी कभी उन्हे ऐसी जबरदस्त ठोकर लगती है कि उनकी आंख खुल जाती है और उन्हे प्रतीत हो जाता है कि यह संसार यथार्थ मे क्या है। इस संसार मे कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड़ अन्य किसी वस्तु पर यथार्थ प्रेम नहीं कर सकता। मनुष्य को पता लग जाता है कि मानव प्रेम हर तरह से पोला है, नि सार है। मनुष्य प्रेम कर नहीं सकते। वे तो केवल बाते ही करना जानते है। पत्नी कहती है कि मै पति से प्रेम करती हूँ और ऐसा कहकर वह अपने पति का चुम्बन करती है। पर ज्योही पति की मृत्यु हो जाती है तो सब से पहले पत्नी का ध्यान अपने पति के जमा किए हुए वैक के धन की ओर जाता है और पत्नी यही सोचने लगती है कि कल मै क्या क्या करूँगी। पति पत्नी पर प्रेम करता है पर जब पत्नी बीमार होजाती है और उसका रूप नष्ट हो जाता है या यौवनकाल बीतकर पत्नी को बुढ़ापा घेर लेता है अथवा पत्नी

कोई गल्ती कर बैठती है तब पति उस पत्नी की चिन्ता करना छोड़ देता है। ससार के समस्त प्रेम-प्रदर्शन मे निरा दम्भ है, निःसारता है, खोखलापन है।

नाशवान् (सान्त) वस्तु प्रेम नहीं कर सकती और नाशवान् (सान्त) वस्तु पर प्रेम नहीं किया जा सकता। जब मनुष्य के प्रेम का पात्र हर क्षण मृत्युमुख मे है और उस मनुष्य की आयुवृद्धि के साथ साथ सदा मन मे भी परिवर्तन हो रहा है तो ऐसी अवस्था मे संसार मे शाश्वत प्रेम—स्थायी प्रेम—प्राप्त करने की आशा ही कहाँ हो सकती है? ईश्वर को छोड़ कहीं अन्यत्र प्रेम कैसे ठहर सकता है? तो फिर इन भिन्न भिन्न प्रेमों का क्या प्रयोजन है? ये प्रेम केवल सीढ़ियाँ या सोपान मात्र है। इसके पीछे एक ऐसी शक्ति है जो हमे सदा यथार्थ प्रेम की ओर प्रेरित कर रही है। हमे पता नहीं कि हम यथार्थ वस्तु को कहाँ ढूढ़े। पर यह प्रेम ही हमे उस मार्ग मे—अर्थात् उसकी खोज मे—अग्रसर कर रहा है। बारम्बार हमे अपनी गलती सूझती है। हम एक वस्तु को ग्रहण करते है, पर देखते है कि वह हमारी मुट्ठी से निकली जा रही है, तब हम किसी दूसरी वस्तु को पकड़ लेते है। इसी प्रकार हम आगे ही आगे बढ़ते चले जाते है। तब हमे प्रकाश दिखाई देता है और तब हम परमात्मा के पास पहुँचते है। वह ईश्वर ही एक मात्र प्रेमी है। उसके प्रेम में कभी कोई विकार नहीं होता और उसका प्रेम हमें सदा अपने में लीन करने को प्रस्तुत रहता है। उसके प्रेम मे कभी कोई अंतर नहीं पड़ता और वह सदा हमे अपनाने को तैयार रहता है। यदि मै तुम

लोगो को कष्ट दूँ तो तुम मुझे कब तक क्षमा करोगे ? पर वह अवश्य क्षमा कर सकता है। उसके मन मे क्रोध, घृणा या द्वेष है ही नही। वह अपनी समता कभी नहीं खोता। वह सदा समान व्यवहार रखता है। वह न कभी मरता, न कभी जन्म ही लेता है। ईश्वर के अतिरिक्त ऐसा कौन हो सकता है ? पर ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बहुत लम्बा है और बहुत कठिन है। बहुत ही थोडे मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करते है। हम सब तो हाथ पैर पटकने वाले बच्चे है। लाखो मनुष्य इस भक्ति-मार्ग या धर्ममार्ग का केवल रोजगार करते है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी बाते करता है पर विरला ही उस भक्ति को प्राप्त कर पाता है। शताब्दि भर मे बहुत थोड़े मनुष्य ईश्वर के प्रेम को प्राप्त करते है। इन मनुष्यो से समस्त देश कृतार्थ और पवित्र हो जाता है जैसे सूर्योदय से समस्त अंधकार दूर हो जाता है। जब ईश्वर के भक्त का अवतार होता है तब सारा देश धन्य और पवित्र हो जाता है। यद्यपि सारे संसार मे एक शताब्दि भर मे ऐसे भगवद्भक्त बहुत ही कम संख्या मे जन्म लेते है तथापि ईश्वर-प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न हम सब को करना चाहिए और यह कौन जानता है कि ईश्वर का पूर्ण प्रेम तुमको या मुझको इसके बाद के (दूसरे) क्षण मे ही प्राप्त हो जाय। अतः हमे इसके लिए सदैव खटपट करते रहना चाहिए। हम कहते है कि स्त्री अपने पति पर प्रेम करती है और स्त्री भी समझती है कि उसकी सम्पूर्ण आत्मा अपने पति मे ही लीन है। पर उसे जब एक बालक उत्पन्न होता है और उस स्त्री के प्रेम का आधा या उससे भी अधिक अंश उस बालक की ओर खिच जाता है। उस

स्त्री को स्वयं ही ऐसा मालूम होने लगता है कि अब उसका प्रेम पति की ओर उसी प्रकार का नहीं रहा। इसी तरह पिता के प्रेम को भी जानिये। हम सदैव यह देखते हैं कि जब हमे कोई अधिक प्रिय वस्तु प्राप्त हो जाती है तब हमारे पहले के प्रेम का धीरे धीरे लोप हो जाता है। जब तुम पाठशाला मे पढ़ते थे तब समझते थे कि तुम्हारे कुछ सहपाठी ही तुम्हारे जीवन मे सब से बढ़कर तुम्हारे प्रेमी है या उस समय तुम्हारे माता पिता ही तुम्हें सब से अधिक प्यारे थे। उस के बाद तुम पति या पत्नी बने और तुरन्त ही तुम्हारे पूर्वभाव बदल गए और तुम्हारे जीवन के ये नए प्रेमी ही तुम्हारे सर्वोच्च प्रेम पात्र बन गए। एक तारा का उदय होता है, उसके बाद उससे बड़ा तारा उगता है, तत्पश्चात् उससे बड़ा तारा दिखाई देता है और अन्त मे सूर्य का दर्शन होता है और तमाम छोटे प्रकाशक-ग्रह विलीन हो जाते है। परमात्मा ही इस तरह का सूर्य है और ये कम श्रेणी के प्रेमपात्र-गण तारामंडल है। और जब वह सूर्य प्रकट होता है तब मनुष्य को उन्माद हो जाता है। ऐसे मनुष्य को श्री० इमर्सन "भगवत्प्रेमोन्मत्त पुरुष" कहते है। अन्त मे वह मनुष्य ईश्वरस्रूप हो जाता है और समस्त पदार्थ उस प्रेम के ही एक मात्र समुद्र मे डूब जाते है। साधारण प्रेम केवल पाशविक आकर्षण मात्र होता है। यदि ऐसा न होता तो स्त्रीपुरुष के भेद की आवश्यकता ही क्या थी? यदि मूर्ति के सामने कोई घुटना टेकता है तब तो वह कार्य घृणित मूर्तिपूजा कहलाता है और जब वह अपने पति या पत्नी के पैरों पर गिरता है तो वह आदर्श कार्य समझा जाता है!

पर तुम्हें तो इन छोटे प्रेमो के भीतर से ही जाना होगा।

तुम्हे प्रथम अपना मार्ग परिष्कृत करना होगा। तुम अपने जीवन को जिस दृष्टि से देखोगे उसी के आधार पर तुम्हारे प्रेम का सारा सिद्धान्त अवलंबित रहेगा। इस संसार को ही जीवन का अन्तिम ध्येय और साध्य वस्तु मान लेना निरी पाशविक और अवनतिकारी भावना है। जो मनुष्य ऐसी भावना लेकर अपने जीवन-पथ पर कदम रखता है वह अपने को अवनत करता है; अपने आप को गिराता है। ऐसा मनुष्य कभी उन्नति नही कर सकता; अपने को ऊँचा नहीं उठा सकता; वह कभी भी अपने पीछे रहनेवाली उस अन्तर्हित ज्योति का आभास प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो सदा इन्द्रियो का ही दास बना रहेगा तथा केवल रुपये जुटाने की ही खटपट करता रहेगा ताकि उसे खाने को कुछ रोटियॉ मिल जाया करे। ऐसी जिन्दगी से तो मर जाना ही बेहतर है। ऐ इस संसार के गुलामो! इन्द्रियो के दासो! अपने को जागृत करो। इससे बढ़ कर कुछ उच्च तत्त्व और भी है। आप क्या यही समझते है कि यह मानव—यह अनन्त आत्मा—अपनी ऑख, कान और नाक का गुलाम बनने के लिए ही पैदा हुआ है? इसके पीछे एक अनन्त सर्वदर्शी आत्मा विद्यमान है जो सब कुछ करने में समर्थ है, जो समस्त बंधनो को तोड़ सकता है। यथार्थ में हमीं वह आत्मा है और प्रेम के द्वारा ही वह शक्ति हमे प्राप्त होती है। अतः यह स्मरण रखो कि यही हमारा आदर्श है। पर यह आदर्श हमे कल ही प्राप्त होने वाला नहीं है। हमे वह आदर्श मिल गया ऐसी कल्पना हम भले ही कर ले पर आखिर वह कल्पना मात्र ही तो होगी। वह आदर्श हम से दूर—और बहुत दूर—है। जिस अवस्था में मनुष्य

भी है उसी पर ध्यान रखकर हमें—यदि संभव हो तो—उसे आगे बढ़ने मे सहायता देना चाहिए। मनुष्य इस जड़ सृष्टि को यथार्थ मानता है। तुम हम सब जड़वादी ही है। हम ईश्वर के सम्बन्ध मे, आत्मा के सम्बन्ध मे बाते करते है सो ठीक है पर ये तो समाज मे प्रचलित कुछ शब्द मात्र ही है। हम इन शब्दो को तोते की तरह रट लिया है और हम उन शब्दो का उच्चारण कर दिया करते है। अतः हम जिस अवस्था में हैं अ... जड़वाद को माननेवाले है—उसका ध्यान रखना होगा। हमें जड़ वस्तुओ की सहायता भी लेनी होगी और इसी प्रकार क्रमश. धीरे धीरे आगे बढ़ना होगा—तभी हम यथार्थ आत्मवादी बन सकेंगे; तभी हम अपने आप को आत्मा है यह अनुभव करने लगेंगे; तभी हम आत्मा को समझेंगे और हमे यह पता लगेगा कि यह संसार जिसे हम अनन्त कहा करते है वह उसके भीतर रहनेवाली वस्तु का केवल बाह्य और स्थूल स्वरूप मात्र है। परन्तु इसके सिवाय कुछ और भी आवश्यक है। आप लोगो ने बाइबिल मे ईसा मसीह के "पर्वत पर के उपदेश" (Sermon on the Mount) मे पढ़ा है—"माँगो और वह तुम को दे दिया जाएगा; ढूंढो और तुम पाजाओगे, दरवाज़ा खटखटाओ और वह तुम्हारे लिए खोल दिया जाएगा।" पर कठिनाई तो यही है कि ढूंढ़ता कौन है? चाहता कौन है? हम सब कहते है कि हम ईश्वर को जानते है। यदि एक मनुष्य यह सिद्ध करने के लिए कि "ईश्वर नहीं है" एक वृहद्ग्रंथ लिखता है तो दूसरा मनुष्य ईश्वर का अस्तित्व ... के लिए एक दूसरा ग्रन्थ लिख डालता है। एक

मनुष्य अपनी सारी उम्र ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना ही अपना कर्तव्य समझता है तो दूसरा उस मत का खण्डन करना ही उचित समझता है और इसी कारण वह मनुष्यो को यही उपदेश करता फिरता है कि ईश्वर है ही नहीं। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन या मण्डन करने के लिए पुस्तके लिखने का क्या प्रयोजन,—ईश्वर हो चाहे न हो इससे जनता को मतलब ही क्या है? इस शहर के रहने वाले अधिकाश मनुष्य प्रातःकाल उठते है और जलपान करते है। ईश्वर उन्हे कपड़ा पहनने या खाने मे सहायता देने थोड़े ही आता है। मनुष्य काम करने के लिए जाता है, सारा दिन वह काम करता है और पैसे कमाता है, अपना धन बैक मे जमा करता है और घर लौटता है, भोजन करता है और सोजाता है। यह सब काम वह ठीक एक यन्त्र के सदृश करता है। इन सब कामो को करते समय ईश्वर का कोई विचार उसके मन मे नहीं आता। ईश्वर की कोई आवश्यकता उसे प्रतीत नहीं होती। ऐसा करते करते एक दिन काल आ पहुँचता है और पुकारता है "चलो!" उस वक्त वह मनुष्य कहता है, "जरा ठहरो, मुझे कुछ मोहलत और चाहिए; मेरा बेटा सोहन थोड़ा बड़ा हो जाय।" मगर काल कहता है—"चलो, तुरन्त चलो।" बस, ऐसा ही हुआ करता है। वह बेचारा सोहन का बाप चला। उस बेचारे से हम क्या कहे? उसकी जिंदगी में उसे कोई वस्तु ही नहीं मिली जो उसे बतला देती कि ईश्वर ही सर्वोत्तम पदार्थ है। सम्भवत वह पूर्व जन्म मे शूकर रहा हो और अब मनुष्य-योनि मे जन्म लेकर बहुत बेहतर अवस्था मे है। पर सारे संसार मे तो सोहन के ही पिता नहीं है। यहाँ कई ऐसे भी लोग हैं जिनको

... हमारे विरा
छ जागृति हो चुकी है। कोई विपत्ति आपड़ती है, हमारे
प्रियतम की मृत्यु हो जाती है, जिस पर हमने अपनी सारी आत्मा
समर्पित कर दी थी, जिसके लिए हम सारे संसार को—अपने
सगे भाई को भी—ठगा करते थे, जिसके लिए हम तरह तरह के घृणित
कार्य करते हुए भी नहीं हिचकते थे। पर जब हमारे उसी प्रियतम का
विनाश हो जाता है तब हमे एक जोरदार आघात पहुँचता है। हमारी
आत्मा से एक आवाज़ निकलती है, और पूछती है, "कहो, अब आगे क्या
होगा?" जिस पुत्र को धनी बनाने के लिए वह व्यक्ति हर किसी को
ठगता था, यहॉ तक कि स्वयॅ भी भूखा रह जाता था, वही पुत्र
मर जाता है। तब उस आघात से पिता की आखे खुलती है। जिस
पत्नी की प्राप्ति के लिए सदा उन्मत्त सॉड़ की तरह वह हर एक से झगड़ा
करता फिरता था, जिसके लिए नये नये वस्त्र और अलंकारो का
आयोजन करने के लिए वह धन संचित करता था, वही पत्नी एक
दिन अकस्मात् मर जाती है! तब क्या होता है? कभी कभी मृत्यु का
दौरा होता है और उससे कोई आघात नहीं पहुँचता, पर ऐसे प्रसग
बहुत कम होते है। जब हमारे प्रिय पदार्थ हमारे हाथ से खिसक जाते
है तब हम मे से अधिकांश तो यही चिल्ला उठते है कि "अब
क्या होगा?" इन्द्रियो पर यह हमारी कैसी घोर आसक्ति है? आपने
सुना ही है कि डूबता मनुष्य तिनके का सहारा पकड़ता है। मनुष्य
पहले तो तिनके को ही पकड़ता है और जब वह तिनका उसका
काम नहीं देता तभी वह पुकारता है कि "मुझे कोई उबारो।"
तथापि मनुष्यो को उच्चतम वस्तुओ की प्राप्ति होने के पूर्व अपने
पिछले दुष्कर्मो का कड़ुआ फल अनुभव करना ही पड़ता है।

पर यह भक्ति एक "धर्म" है। धर्म बहुत से लोगो की चीज़ नही होती। ऐसा होना असम्भव है। घुटनो की कवायत खड़े होना, बैठ जाना यह तो बहुत से लोगो के करने की चीज़ हो सकती है, पर 'धर्म' तो केवल थोड़े से ही मनुष्यो की वस्तु होती है। प्रत्येक देश मे फी सैकड़ा कुछ ही ऐसे मनुष्य होते है जो धार्मिक हो सकते है, बाकी लोग धार्भिक नहीं हो सकते क्योकि वे तो जागृत ही नहीं होगे; उन्हे इसकी आकाक्षा ही नहीं है। मुख्य बात तो है ईश्वर प्राप्ति की आकाक्षा या लालसा। सामान्यतः हमें ईश्वर के सिवाय अन्य सभी वस्तुओ की आकांक्षा होती है; क्योकि हमारे सभी स्वार्थों की पूर्ति बाहरी संसार के द्वारा हो जाती है। और जब हमे इस बाह्य संसार के उस पार की चीजो की आवश्यकता होती है तभी हम उनकी पूर्ति अन्तःस्थ तत्त्व से या ईश्वर से करना चाहते है। हमारी आवश्यताऐं जब तक इस भौतिक सृष्टि की संकुचित सीमा के भीतर की वस्तुओ तक ही परिमित रहती है तब तक हमे ईश्वर की कोई ज़रूरत ही नहीं पड़ती। और जब हम यहॉ की हर एक चीज़ से ऊब जाते है तभी हमारी दृष्टि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इस सृष्टि के परे दौड़ती हैं। और जब आवश्यकता होगी तभी तो उसकी पूर्ति होगी। इस लिए इस संसार की बालक्रीड़ा से—जितनी जल्दी हो सके—निपट लो। तभी तुम्हे इस संसार के उस पार की वस्तु की आवश्यकता प्रतीत होगी और धर्म के प्रथम सोपान (या पहली सीढ़ी) पर तुम कदम रख सकोगे।

धर्म का एक वह रूप है जो केवल फैशन (शौकीनी

सजावट की सामग्रियों में
ा) हो गया है। मेरे मित्र की बैठक में सजावट की सामग्रियों में
जापानी गमले हैं—सम्भवतः यही फैशन है—अतः मुझे भी जापानी
गमला रखना चाहिए—चाहे मुझे उसके लिए हजार रुपए भले ही
खर्च करने पड़े। इसी तरह मैं फैशन के लिए धार्मिक बनता हूँ
और किसी चर्च या धर्म-संप्रदाय में शामिल हो जाता हूँ। "भक्ति"
ऐसों के लिए नहीं है। भक्ति का उद्गम तो सच्ची "आतुरता"
(व्याकुलता) से होता है। "आतुरता" तो तभी कहेंगे जब उसके
बिना जीना असम्भव हो। हमे श्वास लेने के लिए हवा की आवश्य-
कता है; हमे भोजन चाहिए; हमे कपड़े चाहिए; इनके बिना
हम जी नहीं सकते। जब मनुष्य इस संसार में किसी स्त्री से
प्रेम करता है तब कभी कभी उसे ऐसा प्रतीत होता है कि
मानो उस स्त्री के बिना वह जी ही नहीं सकता, यद्यपि उसकी यह
भावना मिथ्या है। जब पति मरता है तब पत्नी समझती है कि मैं
पति के बिना नहीं जी सकती—तिस पर भी वह जीती ही है। किसी
वस्तु की आवश्यकता की जाँच यही है कि उस वस्तु के अभाव में
जीना असम्भव हो। या तो उस वस्तु की प्राप्ति ही हमे हो जाय
या उसके बिना हम मर ही जाँय। जब समय आता है तब हमें
ईश्वर के सम्बन्ध मे ऐसा ही लगता है; अर्थात् संसार के उस पार की
किसी वस्तु की जरूरत हमें मालूम पड़ती है—ऐसी वस्तु जो इन
समस्त जड़ या भौतिक शक्तियो से परे है—उन से ऊपर है—तभी
हम "भक्त" बनते है। जिस समय, मानो जैसे क्षणभर के लिए
बादल हट जाता है और हम उस पार से परम ज्योति की एक
झलक (झांकी) पा जाते है और तब उस एक क्षणभर के लिए

हमारी ऐहिक नीच वासनाएँ समुद्र मे एक बूंद के समान विलीन मालूम पड़ती है। उस समय हमारी ये छोटी छोटी जिन्दगियाँ किस गिनती मे है! ऐसा ही समय आने पर आत्मा की उन्नति होती है, आत्मा को ईश्वर का अभाव खटकता है, उसे ईश्वर प्राप्ति के लिए तीव्र उत्कण्ठा होती है, और भगवान् को पाने के लिए जीव छटपटाने लगता है।

अत. पहली सीढ़ी तो यह है कि हमे कौनसी वस्तु चाहिए! क्या हमे ईश्वर चाहिए! हम यह प्रश्न अपने तई प्रति दिन किया करे। तुम संसार की सारी पुस्तके पढ़ जाओ: पर यह प्रेम तो वाक्शक्ति द्वारा प्राप्य वस्तु नहीं है: तीव्र बुद्धि या शास्त्रो के अभ्यास द्वारा भी पाने की वस्तु वह नहीं है। जिसे ईश्वर की चाह है उसी को प्रेम की प्राप्ति होगी। उसी के पास भगवान् अपने आप को प्रकट करेगे।* प्रेम सर्वदा पारस्परिक होता है और अपना प्रभाव प्रेमपात्र पर डालता है। तुम चाहे मुझसे घृणा करो और यदि मै तुम पर प्रेम करना आरम्भ कर दूँ तो तुम मुझे दूर भगाओगे। पर यदि मै तुम पर सतत प्रेम करता ही रहूँ तो महीने या वर्ष भर मे तुम मुझ पर अवश्य ही प्रेम करने लगोगे। यह एक सर्व प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक घटना है। जिस प्रकार की व्याकुलता से प्रेमिका स्त्री अपने मृत

---

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
—कठोपनिषद् १-२-२३

पति का चिन्तन करती है उसी प्रकार के प्रेम से यदि हमें ईश्वर प्राप्ति के लिए व्याकुल हो तो हमें ईश्वर की प्राप्ति अवश्य होगी। वैसे तो अनेकानेक ग्रन्थो और शास्त्रो से हमें कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। पुस्तको को रटकर हम तोते बन जाते है। पुस्तको को पढ़कर कोई यथार्थ विद्वान् नही हो सकता। जो मनुष्य "प्रेम" का सिर्फ एक ही शब्द पढ़ लेता है वही यथार्थ मे विद्वान् बन जाता है। अत: हम मे सर्व प्रथम व्याकुलता आने की जरूरत है। प्रतिदिन हम अपने आप से यही प्रश्न करे—क्या हमे ईश्वर को पाने की लालसा है? क्या हम ईश्वर को पाने के लिए व्याकुल है? जब हम धर्म की बातें करते है और खासकर जब हम ऐसा ऊँचा आसन ग्रहण करके दूसरो को उपदेश करने लगते है तब हमे अपने तई यही प्रश्न पूछना चाहिए। मैं कई बार देखता हूँ कि मुझे ईश्वर की चाह नहीं है; मुझे रोटी की (भोजन की) चाह उससे अधिक है। यदि मुझे एक टुकड़ा रोटी न मिले तो मै पागल हो जाऊँगा। ऐसे ही यदि हीरे की अलपीन न मिले तो बहुतेरी सभ्य महिलाएँ पागल हो जावेंगी। पर उन्हे ईश्वर-प्राप्ति के लिए इसी प्रकार की लालसा नहीं है। विश्व के "उस एक मात्र यथार्थ वस्तु" का उन्हे ज्ञान नहीं है।

हमारी भाषा मे एक कहावत प्रचलित है "मारै तो हाथी लूटै तो भाण्डार।" भिखारियो को लूटकर या चीटियो का शिकार करके क्या लाभ हो सकता है? अत: यदि प्रेम करना है तो ईश्वर से प्रेम करो; इन सासारिक वस्तुओ की क्या परवाह है? मैं स्पष्ट वक्ता

हूँ पर बातें आपकी भलाई की ही कहूँगा। मैं आप से सच्ची बातें ही कहना चाहता हूँ। मैं आपकी चापलूसी नहीं करना चाहता, चापलूसी करना मेरा काम नहीं है। तुम मेरे बच्चो के सदृश हो। मैं तुम से सच्ची बात कहना चाहता हूँ। यह संसार बिलकुल मिथ्या है। संसार के सभी आचार्य इसी नतीजे पर पहुँचे है। इस संसार से निकलने का मार्ग ईश्वर के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है। वही (ईश्वर) हमारे जीवन का ध्येय है। संसार को जीवन का ध्येय बताने वाले मत अनर्थकारी है। हाँ, इस संसार और इस शरीर का भी मूल्य है पर उनका मूल्य गौण है। संसार और शरीर हमारे साध्य (ईश्वर) की प्राप्ति के केवल साधन मात्र है। संसार ही हमारा साध्य नहीं बन जाना चाहिए—दुर्भाग्यवश अनेक वार हम संसार को साध्य वस्तु और ईश्वर को साधन सामग्री बना डालते है। हम देखते है कि लोग गिर्जाघर मे जाकर कहा करते है, "हे ईश्वर! मुझे यह वस्तु दे, वह वस्तु दे; हे ईश्वर! मेरी बीमारी को आराम कर।" उनको तो चाहिए सुंदर निरोग शरीर और उन्होने सुन रक्खा है कि ऐसा कोई व्यक्ति एक जगह बैठा है जो उनके इस काम को कर देगा; इसीलिए वे जाते है और उससे प्रार्थना करते है। धर्म के ऐसे विचार रखने की अपेक्षा तो नास्तिक होना बेहतर है। जैसा मै बता चुका हूँ यह "भक्ति" सर्वोच्च आदर्श है। मै यह नहीं जानता कि भविष्य मे करोड़ों वर्षों में हमें उस आदर्श (या भक्ति) की प्राप्ति होगी या नहीं। पर हमे तो उस (भक्ति) को अपना सर्वोच्च आदर्श बनाना ही चाहिए और अपनी समस्त

इन्द्रियों   उस सर्वोच्च आदर्श की ओर ही लक्ष्य करने में लगा देना चाहिए। इससे यदि हम अपने साध्य की प्राप्ति न भी होगी तो काम से काम हम उसके अधिक निकट तो पहुँच ही जाएंगे। संसा और इन्द्रियों के द्वारा ही धीरे धीरे अपना काम करके हमें ईश्वर तक पहुँचना है।

---

३. भक्ति के आचार्य

प्रत्येक आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होगी और अन्त मे सभी प्राणी उस पूर्णावस्था का लाभ करेगे यह बात निश्चित है। हमारी वर्तमान अवस्था हमारे पिछले कार्यों और विचारो का परिणाम है तथा हमारी भविष्य अवस्था हमारे वर्तमान कार्यों और विचारो पर अवलम्बित रहेगी। ऐसा होते हुए भी हमारे लिए दूसरो से सहायता प्राप्त करने का मार्ग बन्द नही है। दूसरो की सहायता पाने पर आत्मशक्तियो का विकास अधिक तेजी से होता है। यहाँ तक कि संसार मे अधिकाश मनुष्यो को दूसरों की सहायता की प्रायः अनिवार्य रूप से आवश्यकता हुआ करती है अर्थात् दूसरो की सहायता के बिना उनकी उन्नति हो ही नहीं सकती। जागृत करने वाला प्रभाव बाहर से आता है और वह हमारी अन्तःस्थित गूढ़ शक्तियो को जागृत कर देता है। तभी से हमारी उन्नति का श्रीगणेश होता है, आध्यात्मिक जीवन का आरंभ होता है और अन्त में हम पवित्र और पूर्ण बन जाते है। यह जगानेवाली शक्ति जो बाहर से आती है, वह हमे पुस्तको से प्राप्त नहीं हो सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही जागृति लाभ कर सकती है और किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम जन्म भर पुस्तको का अध्ययन करते रहें और बहुत बड़े बुद्धिशाली भले ही हो जायें पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी आत्मा की उन्नति कुछ भी नहीं हुई है। यदि मनुष्य का बौद्धिक विकास उच्च श्रेणी का है तो उसकी आत्मिक उन्नति भी उसी

श्रेणी की हो यह कोई नियम नहीं है। वरन् इसके विपरीत प्रायः हम यही देखते हैं कि आत्मा की शक्ति का व्यय करके ही बुद्धि की इतनी अधिक उन्नति हुई है।

बुद्धि की उन्नति करने मे तो हमे पुस्तको से बहुत सहायता प्राप्त होती है पर आत्मा की उन्नति करने मे पुस्तको की सहायता प्रायः नहीं के बराबर ही रहती है। ग्रंथों का अध्ययन करते करते कभी कभी हम भ्रमवश ऐसा सोचने लगते है कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इस अध्ययन से सहायता मिल रही है पर जब हम अपना आत्म निरीक्षण करते हैं तब पता लगता है कि ग्रंथो से सहायता हमारी बुद्धि को मिल रही है, हमारी आत्मा को नहीं। यही कारण है कि हम लोग आध्यात्मिक विषयो पर आश्चर्यपूर्ण व्याख्यान तो दे सकते है पर जब तदनुसार कार्य करने का अवसर आता है तो हम बिलकुल निकम्मे पाए जाते हैं। जो बाह्य शक्ति हमे आत्मोन्नति के पथ मे आगे बढ़ाती है वह हमे पुस्तकों द्वारा नहीं मिल सकती, इसी कारण ऐसा होता है। आत्मा को जागृत करने के लिए ऐसी शक्ति किसी दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिए। जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है उसे गुरु या आचार्य कहते है और जिस आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है वह शिष्य या चेला कहाता है। पहले तो इस शक्ति को प्रदान करने के लिए, यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति उत्पन्न होती है उस आत्मा में उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में मानो डाल देने या पहुँचा देने की योग्यता हो और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिसको वह शक्ति दी जाती है, अर्थात् जिस

आत्मा मे वह शक्ति रखनी है वह आत्मा उस शक्ति को लेने के (योग्य) पात्र हो। अर्थात् योग्य सद्गुरु और सत्पात्र शिष्य हो। बीज सजीव हो और खेत अच्छी तरह से जुता हुआ हो। और जब ये दोनो शर्ते पूर्ण हो जाती है तब धर्म की आश्चर्यजनक उन्नति होती है। "धर्म का वक्ता अलौकिक हो और तदनुसार श्रोता भी हो।" और जब दोनो ही अलौकिक या असाधारण होगे तभी अत्युत्तम आत्मिक उन्नति सम्भव है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही लोग यथार्थ गुरु है और ऐसे ही लोग यथार्थ शिष्य हैं। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी होते है जो मानो धर्म का केवल खिलवाड़ करते है। वे सिर्फ थोड़ा सा बौद्धिक प्रयास तथा कुछ कुतूहलपूर्ण शंकाओ का समाधान करते रहते है। उनके बारे मे हम कह सकते है कि वे मानो धर्मक्षेत्र की केवल परिधि पर खड़े हैं। परन्तु हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि उस दशा में भी कुछ न कुछ लाभ अवश्य ही है—धीरे धीरे समय आएगा और सब कुछ प्राप्त हो जाएगा।

प्रकृति का यह रहस्यपूर्ण नियम है कि खेत तैयार होते ही बीज मिलना चाहिए। ज्योही आत्मा को धर्म की आकांक्षा होती है त्योही धार्मिक शक्ति का देने वाला आना ही चाहिए। "खोज करनेवाले पतित की खोज करनेवाले उद्धारक से भेट हो ही जाती है।" जब ग्रहण करने वाली आत्मा की आकर्षक शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है उस समय उस आकर्षण को उपयोग में लाने-वाली शक्ति आनी ही चाहिए।

पर मार्ग में बड़ी बाधाएँ भी हैं। आशंका इस बात की रहती है कि ग्रहीता आत्मा (शिष्य) अपने क्षणिक आवेश को यथार्थ धार्मिक पिपासा समझने लगता है। कई बार हमारे जीवन में ऐसी घटनाएँ पाई जाती है कि जिस व्यक्ति पर हमारा बहुत प्रेम है वह मर जाता है, उसकी मृत्यु से हमें क्षण भर के लिए धक्का पहुँचता है। हम सोचने लगते हैं कि यह संसार हमारी उंगलियों में से खिसका जा रहा है (क्षणभंगुर है)। उस समय हम संसार से किसी उच्चतर वस्तु की इच्छा करने लग जाते है। उस समय हमें धार्मिक होने की जरूरत मालूम पड़ने लगती है। पर कुछ दिनों के बाद वह तरंग (या उमंग) निकल जाती है और हम जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं। हमें अनेकों बार इन आवेशो में धर्म की सच्ची पिपासा का भ्रम हो जाता है। पर जब तक इन क्षणिक आवेशो में हमें इस प्रकार का भ्रम होता रहेगा तब तक हमारी आत्मा की वह सतत यथार्थ पिपासा जागृत नहीं होगी और तब तक हमें "शक्ति-दाता" (गुरु) प्राप्त नहीं हो सकता।

अतः हम जब यह शिकायत करे कि हमें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है यद्यपि हम उसकी प्राप्ति के लिए इतने व्याकुल हैं उस समय हमारा प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम आत्मनिरीक्षण करें और बारीकी से पता लगावें कि क्या हमे वास्तव में उस (सत्य या धर्म) की पिपासा है? अनेकों बार तो यही दिखेगा कि हम ही उसके योग्य नहीं हैं; हमें अभी धर्म की आवश्यकता ही नहीं है; हममें अभी यथार्थ आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं है।

"शक्तिदाता" गुरु के लिए तो और भी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। ऐसे अनेकों होते हैं जो स्वयं तो अज्ञान मे डूबे हुए रहते है पर अपने अन्तःकरण मे अहंकार भरे रहने के कारण अपने को सर्वज्ञ समझते है। इतना ही नहीं वे दूसरो का भार अपने कंधे पर उठाना चाहते है और जैसे अंधे को अंधा राह दिखावे उस तरह दोनो ही गड्ढे मे जा गिरते है। संसार मे ऐसो की ही भरमार है। सभी कोई गुरु होना चाहता है। प्रत्येक भिकारी लक्ष-मुद्रा का दान करना चाहता हैं। इस तरह ऐसे भिखारी जैसे हँसी के योग्य होते है उसी प्रकार ये गुरु भी उपहास के पात्र है। तब प्रश्न यह है कि गुरु की पहिचान हमे कैसे हो? सूर्य को दिखाने के लिए मशाल या दीपक की आवश्यकता नहीं होती। सूरज को देखने के लिए हम मोमबत्ती नहीं जलाते। सूर्य का उदय होते ही उसके उदय होने का ज्ञान हमे स्वभावतः ही हो जाता है। उसी प्रकार जब हमे सहायता देने के लिए किसी जगद्गुरु का आगमन होता है तब आत्मा को अपने स्वभाव से ही ऐसा ज्ञान होने लगता है कि उसे सत्य का पता लग गया।

सत्य स्वयं सिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सत्य तो स्वयं प्रकाशवान् होता है। वह हमारी प्रकृति के अन्तरतम गुहाओं तक को भेद लेता है और सारी सृष्टि चिल्ला उठती है कि "यह सत्य है।" महान् आचार्य ऐसे ही होते है। पर हम तो इनकी अपेक्षा छोटे आचार्यों से भी सहायता पा सकते है और जिनके पास मे हम,

दीक्षा लेना चाहते है या जिन्हें हम गुरु बनाना चाहते है उनके विषय में ठीक या उचित राय कायम कर सकने के लिए पर्याप्त अन्तःशक्ति हम में बहुधा नहीं होती, इसी कारण कुछ कसौटी की ज़रूरत है। जिस प्रकार शिष्य मे कुछ लक्षणो का रहना आवश्यक है उसी तरह गुरु में भी कुछ लक्षण चाहिए। पवित्रता, यथार्थ ज्ञान-पिपासा और उद्योगशीलता ये लक्षण शिष्य मे अवश्य हो। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सब से बड़ी आवश्यकता इसी पवित्रता की है। सब प्रकार की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरी ज़रूरत इस बात की है कि शिष्य को ज्ञान प्राप्ति की यथार्थ पिपासा हो। प्रश्न यही है कि चाहता कौन है? हम जो चाहिए सो मिलता है यही पुराना नियम है। जो खोजे सो पावे। धर्म की आकांक्षा होना बड़ी कठिन बात है। इसे हम साधारणतः जितना सरल समझते है उतना सरल नहीं है। तिस पर हम यह तो भूल ही जाते हैं कि कथाएँ सुनना या पुस्तके पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत युद्ध है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना; जब तक उस पर विजय प्राप्त न हो जावे तब तक निरन्तर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो दिनों, कुछ वर्षों या कुछ जन्मों का प्रश्न नहीं है। इस मे तो सैकड़ों जन्म बीत जायँ तोभी हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सम्भव है, हमे अपनी प्रकृति पर तुरन्त ही विजय मिल जावे; या सम्भव है सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय प्राप्त न हो; पर हमे उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस दृढ़ धारणा के साथ, अग्रसर होता है उसकी सफलता अवश्यंभावी है।

गुरु मे पहले तो हमे यह देखना चाहिए कि वे शास्त्रो के मर्म को जानते हो। सारा संसार बाइबिल, वेद, कुरान और इन सब धर्म-शास्त्रों को पढ़ा करता है पर ये सब तो केवल शब्द समूह, व्याकरण के नियम सूत्रो द्वारा संगठित वाक्यरचना, शब्द रचना और शब्द शास्त्र ही हैं। ये तो धर्म की सूखी नीरस अस्थियाँ मात्र है। गुरु चाहे किसी ग्रन्थ का काल-निर्णय कर ले पर शब्द तो वस्तुओ की बाहरी आकृति मात्र है। जो शब्द की ही उलझन मे अधिक पड़े रहते है और अपने मन को शब्दो की शक्ति मे ही दौड़ाया करते है वे भाव को खो बैठते है। इसीलिए गुरु को धर्म-शास्त्रो के मर्म को जानना आवश्यक है। शब्दो का जाल तो बड़े जंगल के समान है जहॉ मनुष्य का मन रास्ता भूल जाता है और बाहर निकलने का मार्ग नही पाता। "शब्द योजना की विभिन्न रीतियाँ, सुंदर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियाँ, शास्त्रो के अर्थ समझाने के अनेको रूप ये सब विद्वानों के आनंदभोग की वस्तुऍ है। इन से किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती"*। जो लोग इन सब का प्रयोग करते हैं वे तो अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते है जिससे संसार उन की स्तुति करे और यह जाने कि ये विद्वान् है। तुम देखोगे कि संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यो के अनेक अर्थ नहीं किए। उन लोगो ने शब्दो की खीचातानी का कोई प्रयत्न नहीं किया।

*वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलं।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥

विवेकचूडामणि—६०।

उन्होंने यह नहीं कहा कि इस शब्द का अर्थ ऐसा है और इस शब्द तथा उस शब्द के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध है। संसार में जितने महान् आचार्य हुए हैं उनका चरित्र अध्ययन करो। किसी भी आचार्य ने इस मार्ग का अवलम्बन नहीं किया। तिस पर भी इन्हीं आचार्यों ने यथार्थ शिक्षा दी और दूसरे लोगों ने–जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था उन्होंने–एक ही शब्द को ले लिया और उस शब्द की व्युत्पत्ति, उस शब्द का उपयोग प्रथम किन मनुष्यों ने किया, वे लोग क्या खाते थे और कैसे सोते थे आदि आदि विषयों पर तीन तीन जिल्दों की पोथी रच डाली। मेरे गुरु देव मुझसे एक कथा कहा करते थे। एक बार कुछ मनुष्य एक आम के बाग में गए। उनमें से बहुतेरे तो आम के पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहे। उन लोगों ने सब बातों की टिप्पणी भी तैयार कर ली और वहाँ इन भिन्न भिन्न विषयों पर एक अद्भुत बहस भी छिड़ गई। पर उन में से एक मनुष्य जो इन सब से अधिक बुद्धिमान् था इन सबों से अलग ही रहा और उसने अपना सब समय आम खाने में लगाया। अब बताओ इन सब में ज्यादा होशियार कौन था? अतः पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व अपने उपयुक्त स्थान में भले ही हो पर इस धार्मिक क्षेत्र में तो इसकी कोई कीमत नहीं है। ऐसे कामों से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन "पत्ते गिनने वालों" में तुम्हें अच्छा धार्मिक शक्ति सम्पन्न मनुष्य कदापि नहीं मिल

सकता। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म ही है और यह सब से आसान है। इस मे "पत्ते गिनने" की कोई आवश्यकता नही है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो तो यह जानना आवश्यक नहीं है कि ईसामसीह कहाँ पैदा हुए थे—जेरूसलम मे या बेथलेहेम मे; उन्होने "पर्वत पर का उपदेश" ठीक किस तारीख को सुनाया था। तुम्हे तो केवल उस "पर्वत पर के उपदेश" के अनुभव करने की ज़रूरत है। यह उपदेश किस समय दिया गया तथा इस विषय में अन्य दो हज़ार बातें पढ़ने की ज़रूरत नहीं। वह सब तो विद्वानो के आनन्द के लिए है। उन्हे उसे भोगने दो। "तथास्तु" कह दो और आओ हम आनन्द से "आम खाने" मे लगे रहे।

दूसरी आवश्यकता यह है कि गुरु निष्पाप हो। इंग्लिस्तान मे मुझसे एक मित्र पूछने लगे—"गुरु के चरित्र की ओर हमे देखना चाहिए या कि उनके उपदेशो का ही विचार करके उन्हे ग्रहण करना चाहिए?" नहीं, ऐसा ठीक नहीं है। यदि कोई मनुष्य मुझे गति शास्त्र, रसायन शास्त्र या कोई अन्य भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है तब तो उस शिक्षक का आचरण चाहे जैसा भी हो वह मुझे इन विषयो की शिक्षा दे सकता है क्योकि इन विषयो के सिखाने के लिए केवल बौद्धिक ज्ञान की ही आवश्यकता है। केवल बुद्धि वैभव द्वारा इन विषयों की शिक्षा दी जा सकती है क्योकि इन विषयो में तो—आत्मा की ज़रा सी भी उन्नति हुए बिना मनुष्य मे बुद्धि की महान् शक्ति का

होना सम्भव है। पर आध्यात्मिक विज्ञान के सम्बन्ध में तो आदि से अन्त तक कभी भी यह सम्भव नहीं है कि अपवित्र आत्मा मे धर्म की ज्योति का प्रकाश रहे। ऐसी अवस्था में वह सिखलावेगा ही क्या? वह तो कुछ जानता ही नहीं। पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। "पवित्र हृदय वाले ही धन्य है क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे"। इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। यदि तुम इतना ही सीख लो तो भूत काल मे जो कुछ इस विषय मे कहा गया है और भविष्य काल में जो कुछ कहा जा सकता है उस सब का ज्ञान तुम प्राप्त कर लोगे। तुम्हें और किसी ओर दृष्टिपात करने की ज़रूरत नहीं क्योंकि तुम्हे उस एक वाक्य में ही सभी आवश्यक वस्तु की प्राप्ति हो चुकी। यदि संसार के सभी धर्म-शास्त्र नष्ट हो जावे तो अकेले इस वाक्य से ही संसार का उद्धार हो सकता है। आत्मा के पवित्र हुए बिना, ईश्वर का दर्शन—उस परे तत्त्व की झाँकी—कभी नहीं मिल सकती। इसी लिए धर्म की शिक्षा देने वाले गुरु में पवित्रता का होना परम आवश्यक है। प्रथम हमे यह देख लेना चाहिए कि वे (गुरु) "क्या करते हैं", उनका चरित्र कैसा है और तदुपरान्त वे "क्या कहते है," उनका उपदेश क्या है सो सुनना चाहिए। बुद्धि सम्बन्धी विषयों के आचार्य के पक्ष मे यह बात आवश्यक नहीं है। वहाँ तो उनके चरित्र की अपेक्षा उनके उपदेश से ही हमे अधिक मतलब रहता है। धार्मिक गुरु के विषय मे हमे पहले देख लेना चाहिए कि वे कैसे है? क्या वे पवित्र हैं? और यदि वे पवित्र है तभी उनके उपदेश

का मूल्य है, तभी उनके उपदेश का असर होगा; क्योंकि गुरु तो शिष्य में "अपनी शक्ति का संचार करनेवाला" होता है। यदि स्वयं गुरु मे ही वह आध्यात्मिक शक्ति नही है तो वह शिष्य मे किस चीज़ का संचार करेगा? गुरु के मन का एक प्रकार का स्फुरण शिष्य के मन मे प्रविष्ट किया जाता है। उपमा द्वारा देखिए। यदि गर्मी पहुँचाने वाला पदार्थ स्वयं गरम हो तब तो वह गर्मी की शक्ति दूसरे पदार्थ मे पहुँचा सकेगा, अन्यथा नही। यहाँ तो एक के पास से निकाल कर दूसरे मे शक्ति डाल देने का प्रश्न है। केवल हमारी बुद्धि की वृत्तियो को उत्तेजित करने की तो बात नही है। कोई यथार्थ तथा प्रत्यक्ष वस्तु गुरु के पास से निकल कर शिष्य के पास जाती है। इसी कारण सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि गुरु सच्चा हो।

तीसरी बात है उद्देश्य। हमे देखना चाहिए कि गुरु अपना नाम कमाने, कीर्ति पाने अथवा अन्य किसी ऐसे ही उद्देश्य से तो उपदेश नही देते है? वे केवल तुम्हारे प्रति प्रेम—शिष्य के प्रति शुद्ध प्रेम—के कारण ही उपदेश देते है? केवल प्रेम के ही माध्यम द्वारा गुरु से शिष्य मे आध्यात्मिक शक्तियो का संचार किया जा सकता है। अन्य किसी माध्यम द्वारा इन शक्तियों का संचार नही हो सकता। अर्थ-प्राप्ति या कीर्ति-लाभ सदृश किसी अन्य उद्देश्य से उपदेश देने पर संचारक माध्यम का नाश हो जाता है। अतः यह सब प्रेम द्वारा ही होना चाहिए। जिसने ईश्वर को जान लिया है वही गुरु हो सकता है। जब तुमने यह देख लिया कि

गुरु मे ये आवश्यक बातें वर्तमान है तो फिर तुम्हे कोई डर नहीं। और यदि ये बाते गुरु मे नहीं है तो उनसे उपदेश लेने में कोई भलाई नहीं। यदि वे सद्भाव का संचार नहीं कर सकते तो कभी न कभी उनके दुर्भाव के ही संचार होने का डर है। इसकी सावधानी रखनी चाहिए। अतः यह स्वयंसिद्ध बात है कि हम किसी भी ऐसे वैसे से उपदेश नहीं ले सकते। नदी नाले उपदेश करते है, पत्थर उपदेश करते है,* यह काव्यालंकार की दृष्टि से ठीक हो पर जिसके भीतर सत्य नहीं है वह सत्यता का उपदेश अणुमात्र भी नहीं दे सकता। नदी नालों से उपदेश किसको मिलता है? उसी मानव आत्मा को जिसका जीवन-कमल सच्चे गुरु के पास से आने वाले प्रकाश द्वारा पहले ही विकसित हो चुका है। जब अन्तःकरण खुल चुका है तो उसे नालों या पत्थरों से अथवा अन्य वस्तुओ से भी उपदेश प्राप्त हो सकता है। तभी उसे इन सब चीज़ों से धार्मिक शिक्षा मिल सकती है पर जो हृदय खुला नहीं है, बंद है उसे नाले और लुढ़कने वाले पत्थर जैसे होते हैं वैसे ही दिखेंगे अन्यथा नहीं। अंधा आदमी चाहे अजायब घर को चला जावे पर उस को वहाँ जाने से कोई लाभ नहीं। पहले उसकी आँखे खुलनी चाहिए और तब उसके बाद ही वह कुछ सीख सकेगा। गुरु ही धर्म की आँखो का खोलनेवाला—दिव्य

*And this our life exempt from public haunt
Finds tongues in trees, books in the running brooks.
Sermons in stones and good in everything.

—Shakespeare, As you like it. II. 1.

दृष्टि देने वाला—है। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध पूर्वज और वंशज का—पिता-पुत्र—का होता है। गुरु धार्मिक पूर्वज (धर्म पिता) है और चेला उसका धार्मिक वंशज (धर्म पुत्र) है। स्वाधीनता और स्वतंत्रता की बाते चाहे जितनी अच्छी लगे पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। यह उल्लेखनीय बात है कि जहाँ गुरु और शिष्य मे ऐसा सम्बन्ध हो वही आध्यात्मिक महान् आत्माओ की वृद्धि होती है। पर जिन लोगो ने ऐसे सम्बन्ध को तोड़ दिया है उनके लिए धर्म तो केवल एक दिलबहलाव की वस्तु है। उन सब राष्ट्रों और धर्मावलम्बियो मे जहाँ गुरु और शिष्य मे यह सम्बन्ध विद्यमान नहीं है वहाँ आध्यात्मिकता प्रायः अज्ञात वस्तु कही जा सकती है। गुरु शिष्य के बीच उक्त भाव के बिना आध्यात्मिकता कदापि नहीं आसकती; वहाँ प्रथम तो कोई देनेवाला—संचार करने वाला ही नहीं है और दूसरे, कोई ग्रहण करनेवाला या जिसके भीतर संचार किया जावे ऐसा भी कोई नहीं है; क्योकि वे तो सब प्रकार एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। वे सीखेंगे किससे? यदि वे सीखने आते है तो असल मे विद्या खरीदने आते है। हमे एक रुपये का धर्म दो। हम क्या उसके लिए एक रुपया खर्च नहीं कर सकते? विचारणीय बात है की इस प्रकार धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक गुरु के देने से जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है उससे उच्चतर पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि

मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है तो वह उसे अपने आप ही प्रा.
हुआ होना है। यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।
तुम अपना सिर दुनिया के चारों कोनों में, हिमालय, आल्प्स,
काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की
तली में जाकर पटको पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं
हो सकता। गुरु की खोज करो, बालकवत् उनकी सेवा करो,
उनका प्रसाद (प्रभाव) ग्रहण करने के लिए अपना हृदय खोल
रखो; उनमें परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करो। हमारा ध्यान
गुरु की ओर उन्हें ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप समझकर बना रहे
और जैसे ही उनमें हमारी यह ध्यान-शक्ति एकाग्र होगी त्योंही
गुरु के मानव-रूप का चित्र विलीन हो जाएगा, मानव शरीर
लोप हो जाएगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जाएगा। सत्य
की ओर जो इस भक्ति-भाव से और प्रेम से अग्रसर होते हैं उनके
प्रति सत्य के भगवान् ये परम अद्भुत शब्द बोलते हैं—"अपने
पैरों से जूते अलग कर दो क्योंकि जिस जगह तुम खड़े हो वह
स्थान पवित्र है।" जिस स्थान में उस (भगवान्) का नाम लिया
जाता है वह स्थान पवित्र है तब जो मनुष्य उसका नाम लेता है
वह कितना अधिक पवित्र होगा। और जिस मनुष्य के पास से
आध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति होती है उसके निकट हम कितनी श्रद्धा
और भक्ति के साथ पहुँचना उचित है। इसी भाव के साथ हमें
शिक्षा ग्रहण करना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे गुरु इस
संसार में कम मिलते हैं पर यह भी नहीं है कि सृष्टि उनसे
बिलकुल शून्य भी हो; जिस क्षण संसार ऐसे गुरुओं से

रहित हो जाएगा उसी क्षण इस संसार का अन्त हो जाएगा, यह संसार घोर नरक बन कर झड़ जाएगा। ये गुरु ही मानव जीवन के सुंदर तथा अनुपम पुष्प है जो संसार को चला रहे है। उन्ही की शक्ति ने समाज के बंधनो को सुरक्षित रखा है।

इनसे परे और भी एक श्रेणी के आचार्य है जो संसार के ईसामसीह (या पैगम्बर) के समान है। वे सब "गुरुओ के गुरु" होते है—"स्वयं भगवान्" मनुष्य के रूप मे आते है। वे बहुत श्रेष्ठ होते है और अपने स्पर्श मात्र से या अपनी इच्छा मात्र से दूसरो के भीतर धार्मिकता या पवित्रता का संचार कर देते है। ये महान् अधम और अत्यन्त हीन चरित्र वाले मनुष्य को भी क्षण भर मे सच्चरित्र साधु बना देते है। और क्या इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त हमने नही पढ़े है जिनसे हमें विदित हुआ है कि वे ऐसे कार्य किस प्रकार कर दिया करते थे। मै इन गुरुओ के सम्बध मे नहीं कह रहा था। ये तो सब गुरुओ के गुरु है। ये भगवान् के अवतार है। इन्हीं रूपो मे भगवान् ने स्वयं अपने को मनुष्यों के लिए प्रकट किया है। हम भगवान् का दर्शन इनके बिना अन्यथा नहीं कर सकते। हम इनकी पूजा किए बिना रह नही सकते और ये ही ऐसी विभूतियाँ है जिनकी पूजा हमे अवश्य करनी चाहिए।

भगवान् के इन अवतारो के बिना भगवान् का "दर्शन" किसी मनुष्य ने नहीं किया है। हम ईश्वर को देख नहीं सकते। यदि हम ईश्वर को देखने का प्रयत्न करते है तो हम ईश्वर की एक विकृत और भयानक आकृति बना डालते है। एक

किस्सा है कि एक अज्ञानी मनुष्य से भगवान् शिव की धातु की मूर्ति बनाने के लिए कहा गया। तब उसने कई दिनो तक खटपट करने के बाद एक वानर की प्रतिमा बना डाली! इसी प्रकार जब कभी हम भगवान् की मूर्ति बनाने का प्रयत्न करते है तब हम उसका एक विकृत आकार ही बना पाते हैं; क्योंकि जब तक हम स्वयं मनुष्य है तब तक हम भगवान् को मनुष्य से बढ़कर और कोई वस्तु समझते ही नहीं। एक समय ऐसा अवश्य आएगा जब कि हम अपनी मानव प्रकृति को पार करके आगे बढ़ जावेगे और उस समय हम ईश्वर को जैसा वह है वैसा ही जान सकेंगे। पर जब तक हम मनुष्य है तब तक तो हमे मनुष्य-रूप मे ही ईश्वर की आराधना, ईश्वर की पूजा करनी होगी। बाते चाहे जैसी करो, प्रयत्न चाहे जैसा करो, तुम परमात्मा को मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी रूप मे देख ही नहीं सकते। हम चाहे बडे बडे व्याख्यान दे डाले, बड़े तर्कवादी होजाएँ, और यह भी सिद्ध कर दें कि ईश्वर सम्बन्धी सारी कथाएं बेवकूफी की बातें है, पर साथ ही हमे अपनी कुछ साधारण बुद्धि से भी तो काम लेना चाहिए। क्या कभी हमने यह सोचने का यत्न किया है कि हमारी इस विचित्र बुद्धि का आधार क्या है? उत्तर मिलता है—शून्य, कुछ नहीं। इसके बाद जब कभी तुम किसी मनुष्य को ईश्वर-पूजा के विरुद्ध बड़े बड़े बुद्धि-मानी के व्याख्यान फटकारते सुनो तो उसे पकड़कर यह पूछो कि ईश्वर के सम्बन्ध मे उसकी कल्पना क्या है? "सर्वशक्तिमत्ता" "सर्वव्यापित्व" "सर्वव्यापी प्रेम" इत्यादि शब्दोच्चार के अतिरिक्त उनका

वह क्या अर्थ समझता है ? वह कुछ नहीं जानता। वह इन शब्दो के भावो की कोई कल्पना आपके सामने नहीं ला सकता। एक रास्ता चलनेवाले अपढ़ निरक्षर मनुष्य की अपेक्षा वह किसी तरह श्रेष्ठ नहीं है। वह राहगीर मनुष्य स्वयं शान्त है और दुनिया की शान्ति को भंग नहीं करता। उसे कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है अत. यह दोनो (यह राहगीर मनुष्य और वह बुद्धिमान् व्याख्यान दाता) एक भूमिका पर अवस्थित है, दोनो एक ही श्रेणी के है। प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही धर्म है। मौखिक विवाद और प्रत्यक्ष अनुभव मे महान् अन्तर है यह समझ लेना चाहिए। अपनी आत्मा मे जो अनुभव हो वह प्रत्यक्ष अनुभव है। अब सर्वव्यापी भगवान् का क्या अर्थ है ? मनुष्य को आत्मा की कोई कल्पना नहीं है। अपने नेत्रो के सामने वह जो आकार देखता है उन्हीं आकारो के साथ ही उसे आत्मा की कल्पना करनी पड़ती है। नीले आकाश, विस्तृत क्षेत्र-समूह, समुद्र या ऐसी ही किसी महान् वस्तु की भावना उसे करनी पड़ती है। नहीं तो वह और किस तरह ईश्वर का विचार करेगा ? और तुम क्या कर रहे हो ? "सर्व व्यापिता" की बात कर रहे हो और समुद्र का चिन्तन कर रहे हो ? क्या समुद्र ईश्वर है ? अतः संसार के इस व्यर्थ विवाद को दूर करो। हमे साधारण बुद्धि की आवश्यकता है। साधारण बुद्धि बड़ी दुर्लभ वस्तु है। संसार में बातों की भरमार है। हम अपनी वर्तमान प्रकृति के अनुसार मर्यादित हैं और हम भगवान् को मनुष्य के ही रूप में देखने के लिए बाध्य हैं। यदि भैसे ईश्वर की पूजा कर सकते तो वे ईश्वर को एक बड़ा भैंस

ही समझते ! यदि मछली ईश्वर की पूजा करना चाहती है तो वह ईश्वर को एक बड़ी मछली के आकार का समझेगी और इसी प्रकार यदि मनुष्य ईश्वर की पूजा करना चाहता है तो उसे ईश्वर को मनुष्य रूप मानना पड़ेगा । और ये सब केवल कल्पनाएँ ही नहीं है । आप और हम, भैसा और मछली हर एक भिन्न भिन्न पात्रों के स्वरूप है। ये सब पात्र अपने भीतरी आकार के अनुसार ही पानी भरने के लिए समुद्र मे जाते है । मनुष्य मे जो कुछ है उसके अनुसार मनुष्य मे, भैसे के अनुसार भैसे मे, मछली के अनुसार मछली मे पानी भर जाता है। इन पात्रो मे पानी के सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। उसी तरह उन सभी मे जो ईश्वर है उसके विषय में समझो। जब मनुष्य ईश्वर को देखते है तो वे उसे मनुष्य के रूप मे देखते है। उसी प्रकार अपनी अपनी कल्पना के अनुसार अन्य प्राणी भी ईश्वर को अपने अपने रूप मे देखते है। परमेश्वर को तुम केवल इसी तरह देख सकते हो। मनुष्य के ही रूप में तुम उसकी उपासना कर सकते हो; क्योकि इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। दो वर्ग के मनुष्य ऐसे है जो ईश्वर की उपासना मनुष्य के रूप में नहीं करते—एक मानवरूपधारी पशु जिनका कोई धर्म ही नहीं होता और दूसरे "परमहंस" (पहुँचे हुए योगी) जो मनुष्यता के परे पहुँच गए है, जो मन और शरीर से अलग हो चुके है और प्रकृति की मर्यादा के उस पार चले गए हैं। समस्त प्रकृति उनकी आत्मा बन गई है। उनके न मन है, न शरीर। वे ईशू या बुद्ध के समान ईश्वर की उपासना ईश्वर के ही रूप में कर सकते है। वे

ईश्वर की पूजा मनुष्य के रूप मे नहीं करते थे। दूसरे छोर पर मानव पशु है। ये दोनो छोर वाले व्यक्ति कैसे एक समान दिखते है। वैसे ही अत्यन्त अज्ञानी और अत्युच्च ज्ञानी मे भी समानता है—ये दोनो ही किसी की उपासना नहीं करते। अत्यन्त अज्ञानी मनुष्य को पर्याप्त विकास न होने के कारण ईश्वर की उपासना की ज़रूरत ही नहीं मालूम पड़ती और इसलिए वह ईश्वर की पूजा नहीं करता। और जो मनुष्य उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति कर चुके हैं वे भी ईश्वर की पूजा नहीं करते; क्योंकि वे तो परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके है और उनका ईश्वर के साथ तदाकार हो चुका है। ईश्वर कभी ईश्वर की पूजा नहीं करता। इन दो सीमान्त अवस्थाओ का मध्यवर्ती कोई मनुष्य यदि यह कहे कि मै मनुष्य-रूप मे ईश्वर की पूजा नहीं करता तो उससे तुम सावधान रहो। वह अपनी जवाबदारी बिना समझेबूझे बाते करने वाला मनुष्य है। उसका धर्म उथले विचार वालो के लिए है। उसका केवल बौद्धिक व्यर्थ वाद है।

अतः ईश्वर की मनुष्य के रूप मे उपासना करना नितान्त आवश्यक है। और जिन जातियो मे ऐसे उपास्य "मानव—ईश्वर" है वे धन्य है। क्रिस्तानो मे क्राइस्ट के रूप में ऐसे मानव रूपधारी ईश्वर है। अतः उन्हे क्राइस्ट के प्रति दृढ़ आसक्ति रखनी चाहिए। क्राइस्ट को उन्हे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। मनुष्य मे ईश्वर का दर्शन करना यही ईश्वर दर्शन का स्वाभाविक मार्ग है। ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विचार वहीं एकाग्र हो सकते है। क्रिस्तानो मे सबसे बड़ी कमी इस बात की है कि वे क्राइस्ट के अतिरिक्त ईश्वर

के अन्य अवतारो के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। क्राइस्ट ईश्वर के
अवतार थे उसी तरह बुद्ध भी ईश्वर के अवतार थे तथा अन्य सैकड़ो
अवतार होवेगे। ईश्वर को कहीं पर सीमाबद्ध मत करो। क्रिस्तानों
को चाहिए कि ईश्वर की जो कुछ भक्ति करना वे उचित समझे वह
वें क्राइस्ट के प्रति करे; यही एक उपासना उनके लिए सम्भव है।
ईश्वर की पूजा नहीं हो सकती; क्योंकि ईश्वर तो सृष्टि मे सर्व व्यापी
है। उनके मानव स्वरूप की ही हम उपासना कर सकते हैं।
" क्राइस्ट के नाम पर " क्रिस्तान लोगो का प्रार्थना करना बहुत
अच्छा है। बेहतर हो यदि वे ईश्वर से प्रार्थना करना छोड़ केवल
क्राइस्ट से ही प्रार्थना करे। ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओ को
समझता है। और मानव जाति का उपकार करने के लिए ईश्वर
मनुष्य बनकर आता है। श्रीकृष्ण भगवान् का वाक्य है कि "जब जब
धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं मानव
जाति का उद्धार करने आता हूँ।"* "अज्ञानी जन यह न जान कर कि
मै सृष्टि के सर्व शक्तिमान् और सर्वव्यापी ईश्वर ने यह मानव रूप
धारण किया है, मेरी अवहेलना करते है और आश्चर्य करते है कि
यह कैसे सम्भव है।"+ उनका मन आसुरी अज्ञान से आच्छादित
है इसीलिए वे उस मानवरूप ईश्वर मे सृष्टि के स्वामी ईश्वर का

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
—गीता (४–७)

\+ अवजानन्ति मा मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
—गीता (९–११)

दर्शन नहीं कर पाते ! ईश्वर के महान् अवतार पूजनीय है। यही नहीं, पूजा तो केवल इन्हीं की हो सकती है। और इनके जन्म दिवस तथा महासमाधि दिवस को हमे विशेष पूजनीय मानना चाहिए। क्राइस्ट की पूजा करने मे मै उनकी पूजा ठीक उसी तरह करूँगा जैसी कि वे स्वयं ईश्वर की पूजा कराना चाहते थे। उनके जन्म-दिवस पर मै दावत उड़ाने के बदले प्रार्थना और उपासना द्वारा उनकी पूजा करूँगा। जब हम इन अवतारो का, महान् विभूतियो का चिन्तन करते है तब ये हमारी आत्माओ के भीतर प्रकट होते है और हमे अपने समान बना देते है। हमारी सम्पूर्ण प्रकृति बदल जाती है और उनके समान हो जाती है। पर तुम क्राइस्ट और बुद्ध को वायु मे उडनेवाले भूत प्रेतों तथा उसी श्रेणी के अन्य अज्ञान कल्पित जन्तुओ के समान मत समझ लेना। शान्तम् पापम्। क्राइस्ट भूतदल के साथ नाचने आता है! मैने यह ढोंग इसी देश मे देखा है। परमात्मा के ये अवतार इस तरह नहीं आया करते। किसी भी अवतार के स्पर्श मात्र से मनुष्य मे कई प्रकार का प्रभाव पड़ता है। जब क्राइस्ट का स्पर्श होगा तो मनुष्य की समग्र आत्मा परिवर्तित हो जावेगी और वह मनुष्य बदलकर क्राइस्ट जैसा ही बन जाएगा। उसका सारा जीवन आध्यात्मिक बन जाएगा और उसके शरीर के रोम रोम से आध्यात्मिक शक्ति निकलने लगेगी। क्राइस्ट की जो शक्तियाँ उनके चमत्कारो मे और आरोग्यता प्रदानो मे दिख पड़ती है वे यथार्थ मे क्या थीं? ये तो तुच्छ गंवारी असंस्कृत, त्याज्य चीजे थीं। और वे इन्हे किए बिना नहीं रह सकते थे, क्योकि वे असंस्कृत मनुष्यों के बीच रहते थे। ये चमत्कारपूर्ण

कृत्य कहाँ किये गए? यहूदी लोगों के बीच। और यहूदी लोग उनको रखना नहीं चाहते थे। और ऐसे चमत्कार कहाँ नहीं किए गए? यूरोप मे। ये चमत्कार तो यहूदियो के पास गए जिन्होने क्राइस्ट का परित्याग किया और उनके "पर्वत पर का उपदेश" यूरोप को गया जिसने क्राइस्ट को अपनाया। मानव आत्मा ने जो सत्य था उसका ग्रहण किया और जो मिथ्या था उसका परित्याग किया। क्राइस्ट की महान् शक्ति उनके चमत्कारों मे, उनके आरोग्य दान में नहीं है। यह तो कोई अज्ञानी भी कर सकता है। कई अज्ञानी दूसरो को आराम कर सकते हैं। असुर लोग भी दूसरो के रोग को भगा सकते हैं। मैंने भयानक आसुरी मनुष्यों को अद्भुत चमत्कार करते देखा है। ऐसे लोग मिट्टी से फल बना डालते है। मैंने मूर्खों और आसुरी मनुष्यो को भूत, वर्तमान और भविष्य की बाते बताते देखा है। मैंने मूर्खों को केवल एक दृष्टिपात द्वारा इच्छा शक्ति से बड़े भयानक रोगो को आराम करते देखा है। सचमुच में ये शक्तियाँ तो हैं पर बहुधा ये शक्तियां आसुरी शक्तियॉ हुआ करती हैं। इनके सिवाय एक दूसरी शक्ति है जो क्राइस्ट की आध्यात्मिक शक्ति है—वह जीवित रहेगी और सदा जीवित रहती आई है—और वह है सर्व शक्तिशाली, सबको अपनाने वाला प्रेम। वैसे ही उन्होंने जो सत्य के शब्दों का उपदेश दिया वे शब्द भी सदा जीवित रहेंगे। उनका अपनी एक नज़र से मनुष्यों को निरोग कर देना कभी विस्मृत हो सकता है पर "जिनका अंतःकरण पवित्र है वे धन्य हैं" यह उनकी उक्ति कभी नहीं भुलाई जा सकती। यह उक्ति आज भी

अमर है। यह शब्द-समूह शक्ति का महान् अक्षय्य भाण्डार है जो उस समय तक खाली नही हो सकता जब तक मनुष्य का मन कायम रहेगा। जब तक हम ईश्वर के नाम को भूलेगे नहीं तब तक ये शब्द प्रचलित रहेंगे और उनका कभी अन्त न होगा। शक्ति की इन्हीं बातों को ईशू ने सिखाया और ये ही शक्तियाँ उनके पास थीं। उनकी शक्ति पवित्रता की शक्ति थी और वह थी यथार्थ शक्ति। अतः हमे क्राइस्ट की उपासना—उनसे प्रार्थना—करते समय यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम किस वस्तु की इच्छा कर रहे है। चमत्कार दिखलाने की उन मूर्खतापूर्ण वस्तुओ को हम नहीं चाहते वरन् आत्मा की उन अद्भुत शक्तियो की हम आकांक्षा करते हैं जो मनुष्य को स्वतन्त्र बना देती है, उसे समग्र प्रकृति पर अधिकार प्राप्त करा देती है और उसे दासत्व की शृंखला से छुड़ाकर ईश्वर का दर्शन करा देती हैं।

४. प्रतिमा की आवश्यकता

भक्ति के दो विभाग है। एक वैधी भक्ति—जो विधिमर्या या अनुष्ठानात्मक होती है और दूसरी मुख्या भक्ति या पराभक्ति। अत्यन्त निम्न श्रेणी से लगाकर उच्चतम श्रेणी तक की उपासना के सभी रूपो का समावेश "भक्ति" शब्द मे होता है। दुनिया के सभी देशो और सभी धर्मों में जितनी भी उपासनाएँ की जाती है उन सब का नियमन प्रेम द्वारा होता है। इन उपासनाओ मे बहुत सा भाग तो केवल विधियो का होता है और बहुत सा भाग विधियो का न होने पर भी प्रेम नहीं कहा जा सकता, वह तो प्रेम से नीची श्रेणी का होता है। तथापि ये विधियाँ आवश्यक होती है। भक्ति का यह बाहरी भाग आत्मा की उन्नति के मार्ग मे सहायता देने के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य यदि सोचे कि मैं एकदम उच्चतम अवस्था पर कूदकर पहुँच जाऊँगा तो यह उसकी बड़ी भूल है; यदि बालक सोचे कि मै एक दिन मे वृद्ध बन जाऊँगा तो यह उसकी भूल है। मै आशा करता हूँ कि आप सदा इस बात पर ध्यान रखेगे कि धर्म न तो पुस्तको मे है, न बौद्धिक सम्मति देने मे है और न तर्कवाद मे ही। तर्क सिद्धान्त, आप्त वाक्य, शास्त्राज्ञा, धार्मिक अनुष्ठान ये सब धर्म के साहायक होते है, पर असली धर्म तो साक्षात्कार या अपरोक्ष अनुभव ही है। हम सब कहा करते है कि "ईश्वर है।" क्या आप ने ईश्वर को देखा है? यही तो प्रश्न है। आप ने किसी मनुष्य को यह कहते सुना कि "स्वर्ग मे

एक ईश्वर है।" फिर आप उससे पूछते है कि क्या तुमने ईश्वर को देखा है और यदि वह कहता है कि हाँ मैने ईश्वर को देखा है तो आप उसकी हँसी करते है और कहते है—यह पागल है। बहुतेरे मनुष्यो का धर्म तो किसी सिद्धान्त को मानने या एक प्रकार की बौद्धिक सम्मति देने मे ही समाप्त हो जाता है। मैने अपने जीवन मे ऐसे धर्म का उपदेश कभी नही किया। मै इसे धर्म नहीं कहता। इस तरह का धर्म पालन करने की अपेक्षा तो नास्तिक होना बेहतर है। हमारी बौद्धिक सम्मति या मतभेद पर धर्म अवलम्बित नहीं रहता। आप कहते है कि आत्मा है। क्या आपने आत्मा को देखा है? हम सबमे आत्मा है पर उसे हम देख नहीं पाते यह कैसी बात है? आपको इस प्रश्न का उत्तर देना होगा और आत्मा को देखने का उपाय निकालना होगा। यदि ऐसा नहीं हो सकता तो धर्म की बात करना निरर्थक है। यदि कोई धर्म सच्चा है तो वह धर्म हमे अपने आप मे ही आत्मा, ईश्वर और सत्य का दर्शन करा सकने मे समर्थ होना चाहिए। यदि आप और हम किसी धार्मिक सूत्र या सिद्धान्त के सम्बन्ध मे सदा लड़ते रहे तो हम कभी किसी निर्णय पर नही पहुँच सकेगे। इसी तरह लोग सदियो से लड़ते आये है पर नतीजा क्या हुआ? बुद्धि वहाँ तक कदापि पहुँच नहीं सकती। हमे बुद्धि के उस पार जाना होगा। धर्म की सबूती तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही होती है। दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण तो यही है कि उसे हम देखते है। यदि हम बैठ जायँ और दीवाल के अस्तित्व के सम्बन्ध मे युगयुगान्तर तक बहस करें तो कभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचेंगे। पर यदि आप उसे प्रत्यक्ष देखलेगे तो उतना ही बस है। यदि संसार

के सब मनुष्य आप से कहे कि दीवाल नहीं थी तो आप उनका
विश्वास नहीं करेंगे; क्योंकि आप जानते है कि अपने चक्षुओ का
प्रमाण संसार के सूत्रो और सिद्धान्तो से बढ़ कर है ।

धार्मिक होने के लिए सर्व प्रथम आपको पुस्तके फेक देनी
होगी । पुस्तके जितनी कम पढ़ो उतनी ही तुम्हारी भलाई है । एक
समय मे एक ही काम करो । पाश्चात्य देशो में इस जमाने मे दिमाग
में सभी चीजो की खिचड़ी करने की प्रवृत्ति हुआ करती है । सभी
तरह के अपरिपक्व विचार दिमाग मे जाकर चक्कर खाते है और
कुहराम मचा देते है । इन विचारों को दिमाग में ठंडा होने का और
निश्चित आकार मे जमने का मौका ही नहीं मिलता । बहुधा यह एक
प्रकार का रोग हो जाता है और यह धर्म तो कदापि नहीं है ।
इसके अलावा कई लोगो को ज्ञान-तंतु-सम्बन्धी उत्तेजना की
जरूरत होती है । उन्हें बताइए कि ऐसे भूत है जो अदृश्य रूप में
वर्तमान हैं और वे उनको ताक रहे है; या कि उत्तरी ध्रुव या और किसी
दूर देश के लोग पंखों के सहारे उड़ते उड़ते अथवा और किसी विचित्र
रूप से आ रहे है । उन्हे ऐसी ऐसी बाते बताइये जिनको सुनकर
उनके हृदय मे सनसनी पैदा हो—तब वे संतुष्ट होकर अपने घर
जाएंगे । पर २४ घण्टे बाद पुनः वे नई उत्तेजना के लिए तैयार
मिलेगे । इसे ही कुछ लोग धर्म कहते हैं । यह तो पागलखाने का
रास्ता है न कि धर्म का । यदि आप इसी राह मे एक शताब्दि तक
चलेंगे तो इस देश को आप एक बड़ा पागलखाना बना डालेंगे ।
परमात्मा के पास दुर्बल लोग नहीं पहुँच सकते और ये सब उत्तेजक

कहानियां श्रोता को दुर्बल बनाती है। अतः ऐसी चीजों को अपने पैर की उंगलियो से भी स्पर्श न करो। इनसे मनुष्य केवल कमजोर बनता है। दिमाग मे गड़बड़ी पैदा होती है। मन दुर्बल हो जाता है। आत्मा का नैतिक पतन होता है और नैराश्यपूर्ण संभ्रम (विशृंखला) ही इसका अन्तिम फल होता है। आप इस बात को ध्यान मे रखिए कि धर्म न बातो मे है, न सिद्धान्तो मे और न पुस्तको में, पर है प्रत्यक्ष अनुभव मे। धर्म तो शिक्षा नहीं है, आचरण है। धर्म को सीखना नहीं है, धार्मिक "होना" है। "चोरी मत करो" इसे सब जानते है पर इससे क्या? इसे तो यथार्थ में उसी ने जाना जिसने चोरी नहीं की। "दूसरो को हानि मत पहुँचाओ" यह हर किसी को मालूम है पर इस से क्या लाभ? जिन्होने दूसरो को हानि नहीं पहुँचाई उन्हीं ने इस वाक्य का अनुभव किया। उन्हीं ने इसे जाना और उस सिद्धान्त पर अपने चरित्र का निर्माण किया। अतः हमे धर्म का अनुभव करना है। और धर्म का यह अनुभव एक लम्बी क्रिया है। जब लोग किसी उच्च अद्भुत विषय के सम्बन्ध में सुनते है तब वे यही समझने लगते है कि वे उसे एकदम प्राप्त कर लेगे। क्षणभर भी वे यह नहीं विचारते कि उसकी प्राप्ति के लिए उन्हे उसका रास्ता तय करना पड़ेगा। वे तो वहाँ एकदम कूदकर पहुँच जाना चाहते है। यदि वह स्थान अत्यन्त उच्चतम है तो भी हम वहाँ पहुंच जाना चाहते है। हम कभी यह सोचने के लिए नहीं रुकते कि हम मे उतनी शक्ति है या नहीं। नतीजा यह होता है कि हम कुछ नहीं करते। आप किसी मनुष्य को जबरदस्ती उठाकर ऊपर नहीं ढकेल सकते। हम सब को क्रमशः प्रयत्न करने की

आवश्यकता होती है। इसी लिए धर्म का यह पहला भाग वैधी भक्ति, उपासना की प्रथम श्रेणी है।

उपासना की ये निम्न अवस्थाएँ कौनसी हैं? इसे बतलाने के पूर्व मैं आप से एक प्रश्न करूँगा। आप सब कहते हैं कि परमेश्वर है और वह सर्वव्यापी व्यक्ति है, परन्तु सर्वव्यापित्व के सम्बन्ध मे आप की क्या कल्पना है। उत्तर देते समय आप केवल अपनी आँखे मूंद लेते हैं और मुझे बताते है कि वह सर्वव्यापी किस तरह का है। अब आप क्या पाते है? या तो आप समुद्र का विचार कर रहे हैं या नीले आकाश का या किसी मैदान के विस्तार का या ऐसी ही चीज़ों का जिन्हे कि आपने अपने जीवन मे देखा है। यदि ऐसा ही है तो आप "सर्वव्यापी ईश्वर" शब्दों से कुछ नही समझते। आपके पास उसका कोई अर्थ नहीं। उसी तरह ईश्वर के अन्य गुणों के सम्बन्ध मे भी समझिए। साधारणतः सर्वशक्तिमान् या सर्वदर्शी के सम्बन्ध मे हमारी क्या कल्पना हुआ करती है? कुछ भी नहीं। अनुभव करना ही धर्म है और जब आप ईश्वर के विषय मे आप की जो कल्पना है उसका अनुभव करने में समर्थ हो जाएँगे तब मै आपको ईश्वर का उपासक या पुजारी कहूँगा। तब तक आपको केवल शब्द के हिज्जे ही मालूम हैं। इससे अधिक और कुछ आप नहीं जानते। और उस अवस्था मे पहुँचने के लिए जब कि हम ईश्वर का अनुभव कर सके हमे साकार वस्तु के मार्ग से पार करना होगा—ठीक उसी तरह जैसे कि बच्चे प्रथम साकार वस्तुओं का अभ्यास करके तदुपरान्त क्रमशः भाव वाचक की ओर जाते हैं।

यदि आप किसी बालक को दो पंचे दस बताते है तो वह नहीं समझता । पर यदि आप उसे दस चीजे दीजिए और दो दो चीजे पाच बार उठाने से दस कैसे हुए यह दिखा दीजिए तब वह उसे समझ लेगा । यह धीरे धीरे चलने तथा देरी का तरीका है । यहाँ हम सब बच्चे ही है । हम उम्र मे चाहे बूढे हो, संसार की सारी पुस्तको का अध्ययन चाहे हमने कर लिया हो, पर आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो हम सब बच्चे ही हैं । अनुभव करने की इस शक्ति से धर्म बनता है । सिद्धान्त, सूत्र, तत्वज्ञान या नैतिक वचनो का ज्ञान जो आप के दिमाग मे ठूंस ठूंसकर भरा है उससे कुछ अधिक मतलब नहीं है । आप क्या है और आपने क्या अनुभव किया है ये ही मतलब की बाते है । हम ने सूत्रो और सिद्धान्तो का तो अध्ययन किया है पर अपने जीवन मे अनुभूति या साक्षात्कार कुछ भी नहीं किया है । अब हमे स्थूल या साकार रूप मे विधि, मंत्र, स्तोत्र, संस्कार और अनुष्ठानो द्वारा प्रारम्भ करना होगा । स्थूल विधियाँ हजारो होगीं । एक ही विधि प्रत्येक के लिए होना आवश्यक नहीं है । किसी को मूर्ति से सहायता मिलती है और किसी को नहीं । किसी को बाहरी मूर्ति की आवश्यकता होती है और किसी को अपने मन मे ही मूर्ति की कल्पना करने की आवश्यकता पड़ती है । मन मे ही मूर्ति की कल्पना कर लेने वाला कहता है, "मैं उच्च श्रेणी का हूँ क्योंकि मानस पूजा ठीक है; बाहरी मूर्ति की पूजा करना बुतपरस्ती है, निंदनीय है; मै उसका विरोध करूँगा ।" जब मनुष्य गिर्जाघर या मंदिर के रूप में मूर्ति बनाता है तो वह पवित्र समझता है । पर यदि वह मूर्ति मनुष्य की आकृति

उसे वह बिलकुल घृणित समझता है। इस तरह मन अपना यह स्थूल अभ्यास भिन्न भिन्न रूपों द्वारा करेगा और क्रम क्रम से हमें सूक्ष्म का ज्ञान प्राप्त होगा, सूक्ष्म का अनुभव होगा। फिर भी एक ही विधि सब के लिए ठीक नहीं हो सकती। एक विधि मेरे लिए उपयुक्त हो, दूसरी किसी और को उपयुक्त हो, इसी तरह जानिए। सभी मार्ग यद्यपि उसी ध्येय को पहुँचाते हैं तथापि वे सभी मार्ग सब के लायक नहीं होते। साधारणतः यहाँ पर हम एक गलती और करते हैं। मेरा आदर्श आप के लायक नहीं है तो मैं उसे जबरदस्ती आप के गले क्यों मढ़ूँ? गिर्जाघर बनाने का मेरा नमूना या स्तोत्र पाठ करने की मेरी विधि यदि आप को ठीक नहीं जँचती तो मैं उस सम्बन्ध में आप पर जबरदस्ती क्यों करूँ? आप दुनिया में जाइए और प्रत्येक अबोध व्यक्ति यही कहेगा कि मेरी ही विधि ठीक विधि है तथा अन्य सब विधियाँ आसुरी हैं। संसार में मेरे सिवाय ईश्वर का कोई और कृपापात्र पैदा ही नहीं हुआ। सभी विधियाँ अच्छी और उपयोगी हैं और जैसे भिन्न भिन्न प्रकार की मनुष्य प्रकृतियाँ हैं ठीक उसी तरह भिन्न भिन्न प्रकार के धर्म भी हैं। और जितने ही अधिक प्रकार के धर्म हों उतना ही संसार के लिए बेहतर है। यदि संसार में बीस प्रकार के धर्म हैं तो बहुत अच्छा है और यदि १०० प्रकार के धर्म हो गए तो और भी अच्छा है, क्योंकि उस अवस्था में धर्म पसन्द करने का अवसर और क्षेत्र अधिक रहेगा। सो हमें तो धर्म की और धार्मिक आदर्शों की संख्या बढ़ने पर उलटे प्रसन्न होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रत्येक मनुष्य के लिए धर्म पालन का अवसर मिलेगा और मानव जाति को

और अधिक सहायता मिलेगी। ईश्वर करे धर्मों की संख्या यहाँ तक बढ़े कि प्रत्येक मनुष्य को अपने लिए-हर किसी के धर्म से अलग-एक धर्म मिल जावे। भक्तियोग की यही कल्पना है।

अन्तिम भाव यही है कि मेरा धर्म तुम्हारा नहीं हो सकता और तुम्हारा धर्म मेरा नहीं हो सकता। यद्यपि ध्येय और उद्देश्य एक ही हैं तथापि हर एक का अपनी अपनी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार मार्ग अलग अलग है। और यद्यपि ये मार्ग भिन्न भिन्न हैं तोभी सभी मार्ग ठीक होने ही चाहिए, क्योंकि सभी मार्ग उसी स्थान को पहुँचाते है। एक ही सत्य हो और बाकी सब ग़लत हो, यह सम्भव नही। अपना मार्ग पसंद कर लेना ही भक्ति की भाषा मे 'इष्ट' या 'चुना हुआ मार्ग' कहलाता है।

अब 'शब्दों' के विषय मे सुनिए। आप सब लोगों ने शब्दों की शक्ति के सम्बन्ध मे सुना है। उनकी कैसी अद्भुत शक्ति होती है। धर्मग्रंथ बाइबिल, कुरान, वेद इन शब्दों की शक्ति से भरे पड़े है। कुछ शब्दों का मानव जाति पर अद्भुत प्रभाव है। फिर दूसरे आकार और चिन्ह भी है। चिन्हों का भी मनुष्य के मन पर बहुत असर पड़ता है। धर्म के बड़े बड़े चिन्ह ऐसे ही नहीं बनाए गए है। हम देखते है कि चिन्ह विचारों के प्रकट करने के स्वाभाविक तरीके है। हम चिन्हो द्वारा ही विचार करते हैं। हमारे सब शब्द उनके पीछे रहने वाले विचारों के चिन्ह मात्र है।

भिन्न भिन्न जाति के लोग भिन्न भिन्न चिन्हों का उपयोग-ऐसा

करने का कारण बिना जाने ही—करने लगे है। विचार या भाव भीतर रहते है और इन चिन्हो का इन भावो और विचारो से सम्बन्ध है। और जिस तरह भीतरी भाव इन चिन्हों को बाहर प्रकट करते हैं उसी तरह ये चिन्ह भी भीतर उन विचारो या भावो को पैदा करते है। इसलिए भक्ति के इस अंश में इन चिन्हो, शब्दों और प्रार्थनाओं के विपय मे वर्णन है। प्रत्येक धर्म में प्रार्थनाएँ है, पर एक बात ध्यान मे रखनी होगी कि आरोग्य या धन के लिए प्रार्थना करना भक्ति नहीं है—यह सब कर्म या पुण्य कार्य है। किसी भौतिक लाभ के लिए प्रार्थना करना निरा कर्म है। उसी तरह स्वर्ग जाने के लिए या अन्य कार्य करने के लिए प्रार्थना करने को भी जानो। जो ईश्वर से प्रेम करना चाहता है, भक्त होना चाहता है, उसे ऐसी प्रार्थनाएँ छोड़ देनी चाहिए। जो ज्योतिर्मय प्रदेश मे प्रवेश चाहता है उसे तो खरीदी और बिक्री की इस "दूकानदारी" धर्म की एक गठरी बॉधकर अलग धर देनी होगी; तत्पश्चात् उस प्रदेश के द्वार मे प्रवेश करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि जिस वस्तु के लिए प्रार्थना करोगे उसे नहीं पाओगे। तुम प्रत्येक वस्तु पा सकते हो। पर यह तो नीच और गॅवार का—भिखारी का धर्म हुआ। "गंगा के किनारे रहकर पानी के लिए छोटा सा कुँआ खोदे—यह सचमुच मूर्ख का ही काम है। हीरो की खान मे आकर कॉच के गुरियों या टुकड़े की तलाश करना मूर्खता ही होगी।"* कैसा आश्चर्य है कि ईश्वर के पास मॉगना—और केवल आरोग्य, भोजन या कपडे का टुकड़ा! जो ईश्वर हीरो की खदान है उसके पास इन सॉसारिक

* उपित्वा जान्हवीतीरे कूपं खनति दुर्मति।

कॉच के टुकड़ो की मॉग! यह शरीर तो कभी मरेगा ही तब इसकी आरोग्यता के लिए पुन. पुनः प्रार्थना करने से क्या लाभ? आरोग्य और धन मे रखा ही क्या है? धनी से धनी मनुष्य अपने धन के थोड़े से ही अश का उपयोग कर सकता है। हम संसार की सभी चीजे प्राप्त नहीं कर सकते। और यदि हम उन्हे प्राप्त नहीं कर सकते तो क्या हमे उनकी चिन्ता करनी चाहिए? यह शरीर ही चला जाएगा तो इन वस्तुओ की परवाह कौन करता है? यदि अच्छी चीजे आवे तो भली बात है! आने दो! यदि ये चीज जाती है तो भी भली बात है! जाने दो! जब वे आती है तो भी उन्हे धन्य है। जब जाती है तो भी धन्य है। हम तो ईश्वर का साक्षात्कार करने जा रहे है। हम उन "सम्राटो के सम्राट्" के समक्ष पहुँचने का प्रयत्न कर रहे है। हम वहॉ भिखारी के वेश मे नहीं पहुँच सकते। यदि हम भिखारी के वेश मे बादशाह के दरबार मे प्रवेश करना चाहे तो क्या हम प्रवेश पा सकेंगे? कदापि नहीं। हम भगा दिए जाएंगे। हमारे ईश्वर सम्राटो के सम्राट् है और हम उनके समक्ष भिखारियो के चिथड़ो मे प्रवेश नहीं कर सकते। वैसे ही दूकानदारों का भी वहॉ प्रवेश नहीं है। वहॉ खरीदी-बिक्री से काम नहीं चलता, जैसा कि बाइबिल मे वर्णन है, ईशू ने खरीदने और बेचने वालो को मंदिर से भगा दिया। तिस पर भी कोई ऐसी प्रार्थना करता है "हे ईश्वर! मै अपनी तुच्छ बिनती तुझ तक भेजता हूँ, मुझे इसके बदले एक नई पोषाक दे दे; हे ईश्वर! मेरा सिर का दर्द मिटा दे। मैं कल दो घण्टे अधिक प्रार्थना करूँगा।" अपने मानसिक क्षेत्र ने अपने

से कुछ ऊपर उठाओ। इस तरह की छोटी छोटी बातो के लिए प्रार्थना करने की अवस्था से अपनी अवस्था को ऊँची समझो। यदि मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति को ऐसी चीजो के लिए प्रार्थना करने मे लगा दे तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही कहाँ रहा? ऐसी समस्त इच्छाओं का और स्वर्ग प्राप्ति की कामना का भी परित्याग करना भक्त का प्रथम कार्य है। स्वर्ग क्या है? स्वर्ग यहाँ के ही इन स्थानो के समान है—थोड़ा कुछ इनसे बेहतर होगा। यहाँ हमे कुछ दुःख और कुछ सुख मिलता है। वहाँ स्वर्ग में शायद दुःख कुछ कम मिले और सुख कुछ अधिक मिले। यहाँ की अपेक्षा वहाँ हमे ज्ञान का प्रकाश कुछ भी अधिक नहीं मिलेगा। यह तो केवल हमारे शुभ कर्मो का फल स्वरूप होगा। ईसाई लोग स्वर्ग को अल्पाधिक सुखभोग का स्थान मानते है। ऐसा स्वर्ग ईश्वर का स्थान कैसे हो सकता है? या स्वर्ग-प्राप्ति से हमे ईश्वर-प्राप्ति का आनन्द कैसे हो सकता है? प्रश्न यही है कि इन सब कामनाओ का त्याग कैसे किया जाय? यही कामनाएँ मनुष्य को दुःखी बनाती है। मनुष्य इन्हीं वासनाओं से बँधे हुए गुलाम होते हैं। इन्हीं कामनाओं के हाथ की कठपुतली बन जाते है और खिलौनो की तरह इधर से उधर पटक दिए जाते है। जिस शरीर को कोई भी वस्तु चूर्ण कर सकती है ऐसे शरीर की ही चिन्ता लिए हुए हम सदा बैठे रहते हैं। इसी कारण हम निरन्तर भय की अवस्था में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैने पढ़ा है कि मृग को केवल अपने डर के कारण प्रति दिन ६०-७० मील की दौड़ लगानी पड़ती है। मीलो वह दौड़ ही दौड़ लगाता जाता है

और तत्पश्चात् थोड़ा रुककर कुछ खाता है। परन्तु हमे यह जान लेना चाहिए कि हम मृग से भी बदतर स्थिति मे है। मृग को तो कुछ आराम मिलता है पर हमे आराम कहॉ ? यदि मृग को पर्याप्त तृण मिल जावे तो वह सन्तुष्ट हो जाता है पर हम तो अपनी आवश्यकताएं सदा बढ़ाते ही रहते है। अपनी आवश्यकताओ को बढ़ाने की हमारी प्रवृत्ति बहुत दूषित प्रवृत्ति है। हम ऐसे चलचित्त और अप्राकृतिक बन गए है कि हमे किसी भी प्राकृतिक वस्तु से सन्तोष नहीं होता। हम सदा दूषित चीजो के पीछे, अस्वाभाविक उत्तेजनाओ के पीछे दौड़ा करते है। हमे खान-पान, आसपास की चीजे और जीवन भी अस्वाभाविक चाहिए। हम सॉंस लेने के लिए वायु को भी पहले जहरीली बना लिया करते है। डर की बात तो पूछिए ही नहीं। हमारा सारा जीवन ही अनेको डर को समूह के अतिरिक्त और क्या है ? हरिण को केवल एक ही प्रकार के जीवो का—बाघ, भेड़िया, इत्यादि प्राणियो का—डर रहता है तो मनुष्य को सारी सृष्टि से डर बना रहता है।

इससे हम अपने को कैसे मुक्त कर सकते है यही प्रश्न है। उपयोगितावादी खड़े होकर पुकारते है "ईश्वर और परलोक की बाते मत करो। हमे इनके विषय मे कुछ मालूम नहीं है। इस संसार में ही सुख की जिन्दगी बिताना उचित है।" यदि हम ऐसा कर सकते तो मै तो सब से पहले यही करता पर दुनिया हमें ऐसा करने दे तब न ? जब तक तुम प्रकृति के गुलाम हो तब तक ऐसा कर ही कैसे सकते हो ? तुम जितना ही अधिक प्रयत्न करते

हो उतना ही अधिक उलझते जाते हो। न मालूम कितने वर्षों से तुम कितनी तजवीजे कर रहे हो पर हर समय अन्त मे यही देखते हो कि अवस्था उत्तरोत्तर बुरी होती दिख रही है। दो सौ वर्ष पहले पुरानी दुनिया मे, मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं पर जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान अंकगणित के जोड़ के क्रम से बढ़ता गया उस की आवश्यकताएँ गुणन क्रम से बढ़ती गई। हम सोचते है कि मोक्ष पाने पर या स्वर्ग जाने से हमारी इच्छाएँ अवश्य पूर्ण हो जाएगी और इसी कारण हम स्वर्ग जाने की इच्छा करते है। यह तृष्णा अनन्त है और कभी बुझनेवाली नहीं! सदा किसी न किसी वस्तु की कमी बनी ही रहती है! यदि मनुष्य भिखारी है तो उसे धन चाहिए। यदि धनी होगया तो उसे अन्य चीजें चाहिए, समाज चाहिए और उसके बाद भी कुछ और चाहिए। आराम या शान्ति कभी मिलती ही नहीं! इस तृष्णा को हम कैसे बुझा सकते है? यदि हम स्वर्ग को जाते हैं तो हमारी इच्छाओ की और वृद्धि ही होती है। यदि गरीब आदमी धनी हो जाता है तो उसकी वासना तृप्त नहीं होती। धन तो अग्नि मे घृत छोड़ने के समान उसकी प्रदीप्त ज्वालाओं की वृद्धि ही करता है। स्वर्ग जाने का अर्थ है अत्यधिक धनवान् होना और तब तो वासना अधिकाधिक बढ़ती है। हम संसार के भिन्न भिन्न धर्म ग्रंथों मे पढ़ते है कि स्वर्ग के देवता मनुष्यो की तरह कई प्रकार की शरारतें किया करते है। वहाँ स्वर्ग में सदा सज्जन ही बसते हैं ऐसा नहीं है। आखिर यह स्वर्ग जाने की इच्छा भी तो सुख भोग की वासना ही

है। इस इच्छा का परित्याग करना चाहिए। आप लोगो के लिए स्वर्ग जाने का विचार करना बहुत हीन और तुच्छ बात है। यह ठीक उसी विचार के सदृश है कि मै करोड़पति होऊँगा और लोगो पर हुकूमत करूँगा। ऐसे स्वर्ग तो अनेक है पर धर्म और प्रेम के द्वार मे प्रवेश करने का अधिकार इन स्वर्गों के द्वारा आप प्राप्त नहीं कर सकते।

---

५. प्रतिमा के भेद

संस्कृत भाषा मे दो शब्द है "प्रतीक" और "प्रतिमा"। 'प्रतीक' का अर्थ है उस ओर जाना या समीप पहुँचना। सभी धर्मों मे उपासना की कई श्रेणियाँ है। उदाहरणार्थ—इसी देश में बहुत से ऐसे लोग है जो साधुओ की मूर्ति की पूजा करते है और ऐसे लोग भी है जो किसी मूर्ति, आकृति या चिन्हों की पूजा करते हैं। फिर ऐसे भी लोग है जो मनुष्य से उच्चतर प्राणियो की पूजा करते है—और ऐसो की संख्या बहुत ज़ोर से बढ़ रही है—जो परलोकगत आत्माओ के पुजारी है। मैने पढ़ा है कि इस तरह के लोग यहाँ ८० लाख है। तदुपरान्त और भी दूसरे लोग है जो उच्च श्रेणी के व्यक्तियो—देवदूत, देवता, इत्यादि—की पूजा करते है। इन भिन्न भिन्न श्रेणियो मे से भक्तियोग किसी का तिरस्कार नहीं करता। इन सब को एक नाम 'प्रतीक' के अन्तर्गत करके प्रतीक-पूजा कह कर मानता है। ये सब ईश्वर का उपासना नहीं कर रहे है पर प्रतीक की—एक ऐसी वस्तु जो ईश्वर के करीब या समीप है उसकी—उपासना कर रहे है। इन सभी चीज़ो के मार्ग से वे ईश्वर की ओर पहुँचने की खटपट कर रहे है। यह प्रतीक-पूजा हमें मुक्ति और स्वातंत्र्य के पद तक नहीं पहुँचा सकती। यह पूजा हमें उन खास चीज़ो को ही दे सकती है जिनके लिए हम उनकी पूजा करते है। उदाहरणार्थ, यदि कोई अपने मरे हुए पूर्वजों की या मरे हुए मित्रो की पूजा करता है तो उनसे शायद कुछ शक्तियाँ या कुछ

संदेश प्राप्त करले। इन पूज्य वस्तुओ से जो विशेष देनगी मिलती है वह विद्या या विशेष ज्ञान कहलाती है। पर हमारा अन्तिम ध्येय मुक्तिलाभ तो हमे स्वयं भगवान् की ही पूजा से प्राप्त होता है। वेदो की व्याख्या करते समय कुछ संस्कृत के पण्डित यह कहते है कि स्वयं सगुण ईश्वर भी वेदो मे प्रतीक ही है पर यह अर्थ ठीक नहीं है। सगुण ईश्वर चाहे प्रतीक मान लिया जावे पर प्रतीक न तो सगुण ईश्वर होता है और न निर्गुण ईश्वर। उनकी पूजा ईश्वर जैसे नहीं की जा सकती। अतः यदि लोग ऐसा समझने लगें कि इन भिन्न भिन्न प्रतीको की—देवदूतो, पूर्वजो, या पवित्र पुरुषों (महात्मा सन्त इत्यादिको) की या मृतात्माओ की—पूजा द्वारा हम कभी भी मुक्ति प्राप्त कर सकते है तो यह उनकी बड़ी भूल होगी। अधिक से अधिक यही संभव है कि इनके द्वारा वे कुछ शक्तियॉ प्राप्त कर सकते है पर मुक्त तो उन्हे केवल ईश्वर ही कर सकता है। परन्तु इस कारण इन प्रतीको का तिरस्कार भी नहीं करना है; उनकी पूजा का कुछ न कुछ फल होता ही है। जो मनुष्य इससे और उच्च विषय को नहीं समझता वह इन प्रतीकों से कुछ शक्ति, कुछ सुख भले ही प्राप्त करले; पर दीर्घ काल के अनुभव के उपरान्त जब वह मुक्तिलाभ करने के लिए तैयार हो जाएगा तब वह स्वयं ही इन प्रतीको को त्याग देगा।

इन सब भिन्न भिन्न प्रतीकों में से सब से अधिक प्रचार परलोकगत मित्रों की पूजा का है। मित्रो के लिए व्यक्तिगत प्रेम मानव प्रकृति में इतना दृढ़ होता है कि जब हमारे किसी मित्र की

मृत्यु हो जाती है तब हम पुनः एक बार उसका दर्शन करना चाहते है । हम उसके शरीरो को छाती से लगा लेते है। हम यह भूल जाते है कि उनकी जीवितावस्था मे उनके शरीर में सदा परिवर्तन हुआ करता था। और मरने पर हम समझते है कि वे स्थायी हो जाते हैं और हम उन्हें उसी तरह देख सकेंगे। यही नहीं, यदि मेरा मित्र या पुत्र जो जीवन काल में दुष्ट था वह अब मर गया है तो मै समझतां हूँ कि वह बड़ा सज्जन था और वह अब मेरे लिए ईश्वर बन गया है। हिन्दुस्तान में ऐसे लोग है जो मृत शिशु के शरीर को जलाते नहीं वरन् गाड़ देते है और उस पर एक मन्दिर बना देते हैं और वह छोटा शिशु उस मन्दिर का ईश्वर बन जाता है। किसी भी देश मे धर्म का यह बहुत प्रचलित तरीका है। और ऐसे तत्ववेत्ताओ की कमी नहीं है जो समझते है कि सब धर्मों का मूल यही रहा है। पर यह निश्चय है कि वे इसे सिद्ध नहीं कर सकते। तो भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रतीकों की पूजा हमें मोक्ष या मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। इसके अलावा इसमें डर (या जोखिम) भी बहुत है। डर इस बात का है कि प्रतीक या "समीपी अवस्था" जहाँ तक कि वे हमे अगली सीढ़ी मे पहुँचाते हैं वहाँ तक तो ठीक हैं, पर ९९ प्रति शत सम्भावना तो यह है कि हम सारी जिन्दगी इन्हीं प्रतीकों से ही चिपके रहेंगे। किसी विशेष सम्प्रदाय में जन्म लेना तो बहुत अच्छा है पर उसी में मरना बहुत बुरा है। अधिक स्पष्ट रीति से और कहा जाय तो किसी सम्प्रदाय में जन्म लेना और उसकी शिक्षा ग्रहण करना बहुत

अच्छा है। उससे सद्‌गुणो का विकास होता है। पर अधिकांश संख्या तो ऐसो की ही होती है कि जो उसी छोटे से सम्प्रदाय मे रहते हुए ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। न वे उससे बाहर निकलते है और न उनकी उन्नति होती है। इन सब प्रतीको की उपासना मे बहुत बड़ा भय यही है। मनुष्य तो कहता है कि ये सब मार्ग की सीढ़ियाँ है जिनके द्वारा वह अपने ध्येय की ओर जारहा है पर जब वह बूढा हो जाता है तो भी हम उसे उन्हीं मे चिपके हुए पाते है। यदि कोई युवक चर्च को नहीं जाता तो वह निंदनीय है पर यदि कोई वृद्ध बुढ़ापे मे भी चर्च का जाना जारी रखता है तो वह भी निंदा का पात्र है। उसका अब बच्चे के खेल से और क्या मतलब? चर्च द्वारा उसे अबतक कोई उच्चतर वस्तु प्राप्त हो जानी चाहिए थी। उसे अब बुढ़ापे मे उपासना-विधि और प्रतीको से और उसी तरह की प्रारम्भिक साधनाओ से क्या प्रयोजन?

"ग्रंथपूजा" इस प्रतीक का एक ज़बरदस्त नमूना—बल्कि सब से बढ़ कर नमूना—है। प्रत्येक देश मे यही पाओगे कि ग्रंथ ने ईश्वर का स्थान ले रखा है। मेरे देश में कुछ ऐसे सम्प्रदाय है जिनका विश्वास है कि ईश्वर अवतार लेकर मनुष्य बनता है, पर ईश्वर को अवतारी पुरुप बनकर वेदों के अनुसार ही चलना चाहिए और यदि उसके उपदेश वेदो से असंगत है तो उन उपदेशों को लोग नहीं मानेगे। बौद्धो के सिवाय अन्य सब सम्प्रदाय वाले भी बुद्ध की पूजा करते है। पर यदि तुम उनसे कहो कि यदि तुम बुद्ध की पूजा करते हो तो उनके उपदेशो को भी क्यो नहीं मानते? तो उत्तर

यही मिलेगा कि उनके उपदेशो ने वेद को स्वीकार नहीं किया है। ग्रथ-पूजा का यही अर्थ निकलता है। धर्मग्रंथ के नाम से चाहे जितनी मिथ्या बातें उचित हो सकती है। हिन्दुस्तान में यदि मै किसी नई बात की शिक्षा देना चाहूँ और सिर्फ यही कहूँ कि यह तो मैं अपने ही अधिकार से या जैसा मैं समझता हूँ वैसा बता रहा हूँ तो मेरी कोई न सुनेगा। पर यदि मै वेदो से कुछ ऋचाएँ निकालकर उन्हीं का तोड़-मरोड़ करूँ और उनका अत्यन्त असंभव अर्थ भी निकालूँ, उसमें जो कुछ भी सयुक्तिक है उसका गला घोट डालूँ और स्वयं अपने विचारों को ही वेदों का तात्पर्य कहकर जाहिर करूँ तो सभी मूर्ख झुण्ड के झुण्ड मेरे पीछे चलेगे। फिर ऐसे भी मनुष्य हैं कि जो ज़ोर के साथ ऐसे ईसाई धर्म का उपदेश करते हैं कि साधारण ईसाई उसे सुनकर घबरा जाता है; पर वे तो यही कहते हैं कि "ईसामसीह का यही मतलब था"। तब तो सभी मूर्ख उनके चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं। कोई भी नई बात—यदि वह वेदों मे या बाइबिल मे नहीं है तो उसे वे नहीं सीखना चाहते। यह तो मानो ज्ञान-तंतुओं से सम्बन्ध रखने वाली बात है। कोई भी नई और अद्भुत बात सुनते ही तुम चौक उठते हो या तुम जब कोई नई चीज़ देखते हो तो चौक पड़ते हो—यह तो मनुष्य की प्रकृति ही है। विचारों के सम्बन्ध में ऐसा और भी अधिक होता है। मन लीकों मे ही दौड़ता है (मन पुरानी लकीर का फकीर हुआ करता है)। नये विचारों के ग्रहण करने में अत्यधिक प्रयास पड़ना है अतः ऐसे नये विचार को पुरानी लीकों के पास ही ले जाकर रखना पड़ता है और तभी हम उसे धीरे से ग्रहण कर लेते हैं। यह हिकमत

तो अच्छी है पर बुरी नीति है। विचार तो कीजिए ये सुधारक लोग जिन्हे हम उदार मत के उपदेशक कहा करते है कैसी ढेर के ढेर असम्बद्ध या झूठ बातो का समाज मे आज प्रचार कर रहे है। ईसाई विज्ञानियो के मतानुसार ईसामसीह एक आरोग्य देने वाले सिद्धहस्त वैद्य थे। अध्यात्मवादियो के मत मे वह एक बड़े मान्त्रिक थे। और थियासोफिस्टो के मत मे वह महात्मा थे। ये सब भाव एक ही पुस्तक के वाक्य से निकालना है। वेदो मे एक वाक्य है कि "केवल सत् का ही अस्तित्व था। हे प्यारे! आदि मे और कुछ नहीं था।*" इस वाक्य के "सत्" शब्द के अनेको अर्थ लगाए जाते है। परमाणुवादी कहते है कि सत् शब्द का अर्थ परमाणु है और इन्ही परमाणुओ से सृष्टि का निर्माण हुआ। प्रकृतिवादी कहते है कि उस शब्द का अर्थ प्रकृति है और प्रकृति से ही सब चीजो की उत्पति हुई है। शून्यवादी (निहिलिस्ट) कहता है कि उस शब्द का अर्थ है "कुछ नही" "शून्य" और शून्य से सब कुछ बना है। आस्तिक कहते है कि उस शब्द का अर्थ "ईश्वर" है और अद्वैतवादी कहते है उसका अर्थ है पूर्ण सत्य। इतनी भिन्नता होते हुए भी सब कोई उसी वाक्य को अपना अपना प्रमाण बताते है।

"ग्रन्थ पूजा" मे ये ही दोष है परन्तु साथ ही साथ उसमें एक गुण भी है। उससे मजबूती आती है। जिन जिन

---

* "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।"
छान्दोग्योपनिषद् ६-२-१

सम्प्रदायो की पुस्तक थी उन्हें छोड़ बाकी सब सम्प्रदायों का लोप
होगया।-पुस्तकवालों की हत्या कोई नहीं कर सकता ऐसा प्रतीत
होता है। आप लोगों ने पारसियो का नाम सुना होगा। वे लोग
पुराने ईरान देशवासी थे और उनकी संख्या एक समय लगभग ए
अरब थी। अरब के लोगों ने उन्हे जीता और आधुनिक पारसी अपने
घर (स्वदेश) मे तो मुसलमान ही हो गए हैं। उनमें से मुट्ठीभर
पारसी अपने ग्रंथ को लेकर अपने सतानेवालो के पास से भागे और
उसी ग्रंथ ने उन्हें आज तक कायम रखा है। फिर यहूदियो का
विचार कीजिए। यदि उनका ग्रंथ न होता तो दुनिया में वे कब के
घुल गए होते पर उनका ग्रंथ ही उनकी जीवनी शक्ति को बनाए रक्खे
है। उनके "तालमूद" ने ही उन पर घोर अत्याचार होते हुए भी
उन्हे बनाए रक्खा है। यही ग्रंथ का सब से बड़ा लाभ है। वह
ग्रंथ ही सभी बातो को एक निश्चित रूप देकर प्रत्यक्ष और सुभीते के
आकार मे एकत्र रख देता है और अन्य सब प्रतिमाओं की अपेक्षा
आसानी से उपयोग में लाया जा सकता है। ग्रंथ को वेदी पर रख
दीजिए। सभी उसका दर्शन करते है और अच्छी पुस्तक को सब
लोग पढ़ते हैं। मुझे इस बात का भय है कि मैं पक्षपाती न समझा
जाऊँ। पर मेरे मत में तो पुस्तको से लाभ की अपेक्षा हानि ही
अधिक हुई है। ये पुस्तकें ही कई भ्रमात्मक सिद्धान्तों के लिए
उत्तरदायी है। भिन्न भिन्न मत पुस्तकों से निकलते हैं और पुस्तकों
पर ही दुनिया के धार्मिक अत्याचारों और कट्टरता की जिम्मेदारी है।
आधुनिक काल में पुस्तकें ही सर्वत्र लोगों को मिथ्यावादी बना रही

है। प्रत्येक देश मे असत्यवादियो की जो संख्या फैली हुई है उसे देखकर तो मै अवाक् हो जाता हूँ।

दूसरा विचारणीय विषय है "प्रतिमा," या मूर्तियो का उपयोग। ससार मे सर्वत्र एक न एक रूप मे मूर्तिया आप को मिलेगी हीं। कही तो उस मूर्ति का आकार मनुष्य का है और यही सब से बढ़िया आधार है। यदि मै किसी मूर्ति की पूजा करना चाहूँ तो मै उसे पशु की, इमारत की या अन्य आकृति की अपेक्षा मनुष्य की ही आकृति को अधिक पसद करूँगा। एक सम्प्रदाय समझता है कि अमुक रूप मे ही मूर्ति ठीक तरह की है तो दूसरा समझता है नहीं वह बुरी है अथवा ठीक नहीं है। ईसाई लोग समझते है कि जब ईश्वर कबूतर के रूप मे आया तब तो ठीक था पर यदि ईश्वर गाय के रूप मे आता है जैसा कि हिंदू लोग मानते है तब वह बिलकुल गलत है और मिथ्या विश्वास है। यहूदी समझते है कि यदि मूर्ति सन्दूक के आकार की है जिसकी छाती पर दो देवदूत बैठे हो और उस मे एक पुस्तक हो तब तो वह ठीक मूर्ति है और यदि वही मूर्ति पुरुप या स्त्री के आकार की हो तो उससे बड़ी हानि है। मुसलमान समझते है कि नमाज़ के समय यदि "काबा का काला पत्थर" वाले मंदिर की एक आकृति अपने मन मे लाने का प्रयत्न करें और पश्चिम की ओर अपना मुँह करले तो बिलकुल ठीक है; पर यदि चर्च के आकार की मूर्ति बनी हो तो वह बुतपरस्ती (Idolatry) है। यह है मूर्ति-पूजा का दोप। तथापि ये सभी तो आवश्यक सीढ़ियां माळूम होती है।

पुस्तको में हमारा अन्ध विश्वास जितना ही कम हो उतना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है। हमने स्वयं क्या अनुभव किया यही सवाल है। ईसा, बुद्ध या मूसा ने जो किया उससे हमें कोई मतलब नहीं जब तक कि हम भी अपने लिए वही अनुभव न प्राप्त करे। यदि हम एक कमरे मे बंद हो जायॅ और मूसा ने जो खाया उसका विचार किया करे तो हमारी क्षुधा उससे शांत नहीं हो सकती और न मूसा के जो विचार थे उनको सोचने से ही हमारी मुक्ति हो सकती है। इन बातो मे मेरे विचार बिलकुल मौलिक (स्वतंत्र) है। कभी कभी तो मै यह सोचता हूँ कि मेरे विचार ठीक है क्योकि मेरे विचार पुराने आचार्यों के विचारो से मिलते है और दूसरे समय मै यह समझता हूँ कि उन लोगों के विचार ठीक है क्योकि वे मुझसे सहमत है। स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने मे मेरा विश्वास है। इन धार्मिक आचार्यों से बिलकुल स्वतंत्र रह कर विचार करो। उनका आदर सब प्रकार करो पर धर्म की खोज तो स्वतंत्र होकर ही करो। मुझे अपने लिए प्रकाश अपने आप ढूंढ़ निकालना होगा जैसा कि उन्होने अपने लिए खोज निकाला था। उन्हे जिस प्रकाश की प्राप्ति हुई उससे हमारा संतोष कदापि न होगा। आप को स्वयं बाइबिल "बनना पड़ेगा।" न कि बाइबिल का अनुसरण करना होगा। हाँ, केवल रास्ते के दीपक के समान, राह प्रदर्शक साइन बोर्ड या निशान के समान उसका आदर करना होगा। पुस्तक की सारी उपयोगिता इतनी ही है। पर ये मूर्तियॉ और अन्य वस्तु बहुत आवश्यक है। अपने मन को एकाग्र

करने के प्रयत्न मे, या किसी विचार पर मन को दृढ़ रखने के लिए भी आप देखेगे कि अपने मन मे मूर्ति या आकृति बनाने की आवश्यकता स्वाभाविक रीति से होती है। उसके बिना काम चल नहीं सकता। दो प्रकार के मनुष्यो को किसी मूर्ति की कभी आवश्यकता नहीं होती—एक तो मानव रूपधारी पशु जो कभी धर्म का विचार ही नहीं करता और दूसरा पूर्णत्व को प्राप्त हुआ व्यक्ति जो इन सब सीढ़ियो को पार कर गया है। इन दोनो छोरों के बीच मे हम सब को किसी न किसी बाहरी या भीतरी आदर्श की आवश्यकता है। यह आदर्श चाहे किसी स्वर्गीय मनुष्य के रूप का हो या जीवित पुरूष या स्त्री के रूप का हो। यह व्यक्तित्व और शरीरो की पूजा है और बिलकुल स्वाभाविक है। हमारी प्रवृत्ति ही स्थूल रूप देने की है। यदि हम स्थूल रूप देने वाले न होते तो यहाँ रहते ही कैसे? हम स्थूलरूप धारी आत्मा है और इसी कारण हम आज अपने को यहाँ इस पृथ्वी पर पाते है। स्थूल रूप ही हमे यहाँ लाया और वही हमे यहाँ से बाहर निकालेगा। "विषस्य विषमौषधम्" "कण्टकेनैव कण्टकम्"। इन्द्रिय विषयक पदार्थों की ओर झुकने के कारण हमारा मनुष्य-रूप हुआ है और हम कहने के लिए चाहे जो भी इसके विरुद्ध कहे पर हम मानवरूप व्यक्तियों की ही पूजा या उपासना करने के लिए बाध्य है।

"व्यक्ति की उपासना मत करो" यह कहना तो बहुत आसान है पर साधारणत. जो मनुष्य ऐसा कहता है वही मनुष्य अत्यधिक व्यक्तित्व की उपासना करने वाला देखा जाता है। खास-

खास पुरुषो और स्त्रियो के प्रति उसकी अत्यधिक आसक्ति रहा करती है। उन लोगो की मृत्यु के पश्चात् भी वह आसक्ति नहीं छूटती और मृत्यु के उपरान्त भी वह उनका अनुसरण करना चाहता है। यही मूर्ति पूजा है। यही मूर्ति पूजा का आदि कारण या बीज है और कारण का अस्तित्व रहते हुए वह किसी न किसी रूप : अवश्य प्रकट होगा। क्या किसी साधारण पुरुष या स्त्री के प्र आसक्ति रखने की अपेक्षा क्राइस्ट या बुद्ध की मूर्ति के प्रति व्यक्ति-गत आसक्ति रखना अधिक श्रेष्ठ नहीं है? पाश्चात्य लोग कहते हैं– "क्राइस्ट की मूर्ति के सामने घुटने टेकना बुरी बात है" पर वे लोग किसी स्त्री के सामने घुटने टेककर "तुम्हीं मेरी प्राण हो, मेरी जीवन की ज्योति हो, मेरी आँखो का प्रकाश हो, मेरी आत्मा हो" ऐसा कहने में दोष नहीं मानते। यह तो मूर्ति पूजा से भी गईबीती बात है। उस स्त्री को "मेरी आत्मा" "मेरे प्राण" कहना–यह है क्या बात; चार दिनों के बाद ये सब भाव काफूर हो जाते है। यह केवल इन्द्रियों की आसक्ति है। फूलों के ढेर से ढँका हुआ यह स्वार्थ का प्रेम है या उससे भी गयाबीता कुछ और है। कवि लोग इसका सुंदर नामकरण कर देते हैं और उस पर गुलाब जल छिड़क देते है पर है असल में वह वही घृणित प्रेम। क्या इसकी अपेक्षा बुद्ध की प्रनिमा या जिनेन्द्र की मूर्ति के सामने घुटने टेककर यह कहना कि "तुही मेरा प्राण है" श्रेष्ठ नहीं है? मै तो उसके बदले इसको सौ बार कहूँगा।

एक प्रकार का प्रतीक और है जिसे पाश्चात्य देशों में नहीं

मानने पर उसकी शिक्षा हमारे ग्रंथो मे है। वह है मन को ईश्वर मानकर पूजा करना। किसी भी वस्तु को ईश्वर मानकर पूजा करना एक सीढ़ी ही है। उससे परमेश्वर की ओर मानो एक क़दम बढ़ना उसके कुछ अधिक समीप जाने के समान है। यदि कोई मनुष्य अरुन्धती तारे को—सप्तर्षि के समीप के एक अति छोटे तारे को—देखना चाहता है तो उसे उसके समीप का एक बड़ा तारा पहले दिखाया जाता है और जब उसकी दृष्टि उस बड़े तारे पर जम जाती है तब उसको उसके बाद एक दूसरा तारा दिखाते है। ऐसा कहते कहते क्रमशः उसको "अरुन्धती" तक ले जाते है। उसी तरह ये भिन्न भिन्न प्रतीक और प्रतिमाएँ ईश्वर तक पहुँचा देती है। बुद्ध और ईसा की उपासना प्रतीक पूजा है। इससे ईश्वर की उपासना के समीप पहुँचते है। पर बुद्ध की पूजा या ईसा की उपासना से मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता। उसे तो इसके और आगे—जिस ईश्वर ने बुद्ध और ईसा के रूप मे अपने को प्रकट किया उस ईश्वर तक—जाना चाहिए। क्योकि अकेला ईश्वर ही हमे मुक्ति दे सकता है।

कुछ तत्ववेत्ता ऐसा कहते है कि इनको ही ईश्वर मानना चाहिए, ये प्रतीक नहीं है, ये तो स्वयं भगवान् है, स्वयं ईश्वर है। फिर भी हमे इन से चिढ़ने का कोई कारण नहीं है। हम तो इन सब भिन्न भिन्न प्रतीकों को मुक्ति मार्ग के विभिन्न सोपान या भिन्न भिन्न सीढ़िया मान सकते है। पर इन प्रतीको की उपासना करने में यदि हम यह समझे कि हम ईश्वर की उपासना कर रहे है तो हमारी भूल है। यदि मनुष्य ऐसा समझता है कि ईसा की ७

यदि कोई मनुष्य किसी मूर्ति की भूतों की या मृत पुरुषो की आत्माओ की पूजा करता है और उसी से वह ऐसा मानता है कि उसका उद्धार होगा तो वह सर्वथा भ्रम मे है। पर तुम पूजा तो किसी भी वस्तु की—उस वस्तु में ईश्वर को देखते हुए—कर सकते हो। मूर्ति को भूल जाओ और उसमे ईश्वर का दर्शन करो। तुम किसी वस्तु का आरोपण ईश्वर पर मत करो अर्थात् किसी वस्तु को ईश्वर मत मान बैठो पर तुम चाहे जिस वस्तु के भीतर ईश्वर का आरोपण (प्रवेश) अवश्य करा सकते हो। इसका अर्थ यह है कि जिस आकृति की तुम पूजा करते हो उसी के भीतर ईश्वर को सीमाबद्ध मत कर रक्खो पर उस आकृति को तथा अन्य जिस किसी भी आकृति की तुम पूजा करना चाहो उसे ईश्वर से भर दो अर्थात् ईश्वर से पूर्ण जानो। इस तरह तुम एक बिल्ली मे ईश्वर की पूजा कर सकते हो, पर हॉ बिल्ली को भूल जाओ और उस मे ईश्वर को विराज-मान कर लो, तुम्हारा यह कार्य बिलकुल ठीक होगा; क्योंकि "उसी ईश्वर से सभी वस्तुओ की उत्पत्ति है," वह ईश्वर सभी वस्तुओं मे है। हम एक चित्र की पूजा ईश्वर की तरह कर सकते है पर ईश्वर को वह चित्र मानकर नहीं। चित्र मे ईश्वर की भावना करना ठीक है पर चित्र को ईश्वर समझना भूल है। बिल्ली के भीतर ईश्वर का अनुभव करना बिलकुल ठीक है, उसमे कोई आपत्ति नहीं। यह तो ईश्वर की यथार्थ पूजा है। परन्तु बिल्लीरूपी ईश्वर तो प्रतीक मात्र है।

करने से ही अपना उद्धार हो जाएगा तो यह उसकी निरी भूल है।

तत्पश्चात् भक्ति मे बड़ी बात है "शब्द"—नामशक्ति या नाम

का प्रभाव । सारा विश्व नाम और रूप से बना है । यहाँ या तो नाम और रूप का संयोग है या कि केवल नाम ही है और रूप मानसिक कल्पना है । अतः अन्ततो गत्वा, नाम और रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । हम सब का यही विश्वास है कि ईश्वर का न तो नाम है न रूप ही पर ज्योंही हम उसके (ईश्वर के) विषय मे सोचते है तब हम उसे नाम और रूप दोनो दे देते है । "चित्त" एक शान्त जलाशय के समान है और विचार उस "चित्त" मे तरंग के समान है । नाम और रूप ही इन तरंगो के उठने के सामान्य तरिके है । नाम और रूप के बिना कोई तरंग नहीं उठ सकती । नित्य एक ही रूप या सदा एकरस का चिन्तन नहीं किया जा सकता। वह चिन्तन के परे है । ज्योही वह विचार और विचार्य वस्तु बन जाता है त्योहीं उसका नाम और रूप होना ही चाहिए । हम इनको अलग नहीं कर सकते। कई पुस्तको मे लिखा है कि ईश्वर ने शब्द से इस सृष्टि की रचना की है। संस्कृत के "शब्द-ब्रह्म" मे वही भाव है जो शब्द के सम्बन्ध में ईसाई मत का सिद्धान्त है । इस पुरातन भारतीय सिद्धान्त को भारतीय उपदेशक एलेक्जेड्रिया लेगए और वहाँ इस सिद्धान्त की जड़ जमाई । इस तरह वहाँ शब्द की और उसके साथ अवतार की कल्पना प्रतिष्ठित हुई। इस भावना मे कि ईश्वर ने समस्त वस्तुओं की रचना शब्द से की, गूढ अर्थ है । स्वयं ईश्वर निराकार है अतः रूपों के यानी सृष्टि के विस्तार के वर्णन करने का यह सुन्दर तरीका है । "रचना" या "उत्पन्न करना" के लिए संस्कृत शब्द है "सृष्टि" जिसका अर्थ है विस्तार । "ईश्वर ने 'कुछ नहीं' या 'शून्य' से सब चीजो को बनाया" यह उक्ति कितनी निरर्थक है ?

विश्व या संसार का विस्तार ईश्वर से हुआ है। ईश्वर ही विश्व या संसार बन जाता है और उसी मे वह संसार पुनः वापस समा जात है और पुनः वहींसे बाहर निकलता है और पुनः उसीमे विलीन हं जाता है। सदैव यही क्रम चला करेगा।

हम देखते है कि मन में किसी वस्तु का विचार (या प्रादुर्भाव) विना नाम और रूप के नहीं हो सकता। कल्पना करो कि तुम्हारा मन विलकुल शान्त है; उसमें कोई विचार या भावना नहीं है तथापि कोई विचार मन में उठते ही तुरन्त वह नाम और रूप धारण करलेगा। प्रत्येक विचार का कोई न कोई नाम और एक न एक रूप हुआ ही करता है। इस तरह सृष्टि या विस्तार वस्तु ही ऐसी है कि उसका नाम और रूप से नित्य सम्बन्ध है। इससे हम यह देखते है कि मनुष्य जो भी विचार करता है या कर सकता है उसका सम्बन्ध किसी शब्द से उसके अंगभूत की तरह होना चाहिए। ऐसा होते हुए जैसे तुम्हारा शरीर तुम्हारे मानसिक विचार का परिणाम या विकास है—मानो तुम्हारा विचार ही स्थूल रूप धारण करके वाहर आगया है,—ठीक उसी तरह इस संसार को भी मन से उत्पन्न हुआ या मन का ही विकास मानना विलकुल स्वाभाविक है। और यदि यह सत्य है कि संसार एक ही पैमाने पर वनाया गया है तो यदि तुम एक परमाणु की रचना कैसे हुई है यह जान लो तो सारे विश्व की रचना कैसे हुई यह भी समझ सकोगे।

यह सच है कि स्वयं हमारे शरीर में वाहरी शरीर से

स्थूल रूप बना है और अंतर मे विचार से उसका सूक्ष्मतर अंश बना है और दोनों का शाश्वत अटूट अविच्छेद्य सम्बन्ध है; तब जिस समय तुह्मारे शरीर का अन्त हो जाएगा उस समय तुह्मारे विचार का भी अन्त हो जाएगा। यह तो तुम प्रतिदिन देख सकते हो। जब किसी मनुष्य के दिमाग मे कुछ गड़बड़ी हो जाती है तो उसके विचारो मे भी गड़बड़ी मच जाती है, क्योंकि दोनो यथार्थ मे एक ही— स्थूल और सूक्ष्म अंश—है। जड़ पदार्थ और मन ये दो वस्तुएँ है ही नहीं। वायु के उच्च विस्तार मे उसी वायु-तत्व का ही घना (स्थूल) और पतला (सूक्ष्म) रहना पाया जाता है। जैसे जैसे ऊँचे जाओ वैसे वैसे वायु का परिमाण पतला अर्थात् सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। उसी तरह शरीर को भी जानिए। यहाँ से वहाँ तक सम्पूर्ण एक ही वस्तु है केवल एक तह या परत पर दूसरी तह या परत स्थूलतर से सूक्ष्मतर होती गई है। फिर यह शरीर उंगली के नखों के समान है। जैसे हम अपने नखो को काटते है और पुनः वे नख बढ़ जाते है उसी तरह हमारे सूक्ष्म विचारो से ही एक के वाद दूसरा शरीर उत्पन्न हुआ करता है। जो वस्तु जितनी ही अधिक सूक्ष्म होती है वह उतनी ही अधिक स्थायी होती है यही हम सदा देखते है। और वह जितनी ही स्थूलतर हो उतनी ही कम स्थायी होती है। इस तरह हम देखते है कि वही एक प्रकट होने वाली शक्ति जिसे हम भाव या "विचार" कहते है उसी की स्थूल अवस्था "रूप" है और उसीकी सूक्ष्म अवस्था 'नाम" है। पर ये तीनो ही एक है—ये एक भी है और त्रिपुटी भी हैं—उसी एक वस्तु के अस्तित्व की तीन अवस्थाएँ है। सूक्ष्मतम, घनीभूत

और अत्यन्त घनीभूत । जहाँ एक रहता है वहीं और अन्य दोनों भी होते है । जहाँ नाम है वहाँ रूप और भाव भी है । यदि सृष्टि और शरीर एक ही नियम से वने है तो यही सिद्ध होता है कि सृष्टि में भी ये तीनों अवस्थाएँ या भेद—रूप, नाम, और भाव—होना चाहिए । 'भाव' तो सृष्टि का सूक्ष्मतम अंश—यथार्थ प्रेरक शक्ति—जो ईश्वर कहाता है, वह है । हमारे शरीर के पीछे जो 'भाव' है वह "आत्मा" कहाता है और सृष्टि के पीछे जो 'भाव' है वह "ईश्वर" कहाता है । तदुपरान्त नाम आता है और सव से अन्त में रूप, जिसे हम देखते और स्पर्श करते है । उदाहरणार्थ, तुम एक अमुक मनुष्य हो, इस विश्व सृष्टि मे के एक छोटे सृष्टि-शरीर हो, जिसका एक प्रकार का आकार है—और उसके पीछे एक नाम श्रीमान् "क" या श्रीमती "ग" है और उसके पीछे एक "विचार" या "भाव" है उसी तरह यह समस्त विश्व सृष्टि है जो उससे अनन्त गुनी वड़ी है । उसका भी नाम है, जिस नाम से ही इस समस्त वाहरी संसार का विकास या विस्तार हुआ है । वह नाम है "शव्द" और उसके पीछे है ईश्वर, सामुदायिक सर्व व्यापी भाव, सांख्य मतानुसार "महत्" या सर्वव्यापी चिच्छक्ति अथवा ज्ञान । वह नाम क्या है ? वह कौनसा नाम है ? उसका कोई नाम तो होना ही चाहिए । सारा संसार सम प्रकृतिवाला है । आधुनिक विज्ञान निश्चयपूर्वक यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक परमाणु उसी वस्तु से वना है जिससे समग्र विश्व । यदि हम मिट्टी के एक ढेले को जान गए तो सम्पूर्ण विश्व या व्रह्माण्ड को जान गए । यदि मैं इस मेज को पूरा पूरा हर एक पहलू से जान गया तो मैंने समस्त व्रह्माण्ड को

जान लिया। मनुष्य इस ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधि रूप या प्रतिबिम्ब रूप है। मनुष्य स्वयं ही ब्रह्माण्ड का एक छोटा स्वरूप है। मनुष्य मे हम देखते है रूप है, उसके पीछे नाम है और उसके पीछे भाव अर्थात् मननकारी व्यक्ति है। अतः ब्रह्माण्ड भी ठीक इसी ढाचे पर होना चाहिए। प्रश्न यह है कि वह नाम कौन सा है? हिंदू मत के अनुसार वह नाम या शब्द "ॐ" है। पुराने मिश्रवासी भी यही मानते थे। "जिसे प्राप्त करने के लिए मन ब्रह्मचर्य साधता है "वह" क्या है यह मै तुमसे संक्षेप मे कहूँगा—"वह" है "ॐ"।* यही "स्वयं ब्रह्म" है, "यही पुराण पुरुप" है, जो इस "ॐ" के रहस्य को जानता है वह मनोवाछित वस्तु पाता है।+

यह "ॐ" ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड या ईश्वर का नाम है। यह ॐ ही वाह्य सृष्टि और ईश्वर दोनों का सूचक है। पर अब हम सृष्टि को उसके अंशरूप मे ले सकते है—भिन्न भिन्न इन्द्रियॉ उसे जैसा अनुभव करती है अर्थात् स्पर्श, रूप, रस और अन्य रीतियों से भी विचार कर सकते है। हर हालत में हम इस सृष्टि को भिन्न भिन्न दृष्टि से करोड़ों सृष्टि मे विभक्त कर सकते है और प्रत्येक भाग स्वयं ही सम्पूर्ण सृष्टि होगा और प्रत्येक के नाम रूप रहेंगे और इनके पीछे भाव भी रहेगा। हर एक के पीछे रहने वाले यही भाव भिन्न

---

* यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।

—कठोपनिषद्।

\+ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

—कठोपनिषद्।

भिन्न प्रतीक है। प्रत्येक का नाम है। इन बहुत से नाम या शब्दों का व्यवहार भक्तियोग मे होता है। इन नामों में प्रायः अपरिमित शक्ति है। इन नामो के जपने से ही हमें मन-वाछित फल की प्राप्ति हो सकती है, हम पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर सकते है। पर दो बातों की आवश्यकता है। कठोपनिषद् का वाक्य है "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" (अलौकिक गुरु और वैसा ही शिष्य हो।) यह नाम ऐसे व्यक्ति से मिलना चाहिए जिसने यथार्थ उत्तराधिकार अर्थात् परम्परा से उसे प्राप्त किया हो। आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत अत्यन्त पुरातन काल से उस शक्ति के साथ गुरु से शिष्य के पास परम्परा से बहता आया है। जिसके पास से इस शब्द की प्राप्ति होती है वह "गुरु" और जिसको यह शब्द दिया जाता है वह "शिष्य" कहलाता है। नियमित रूप से जब शब्द की प्राप्ति हो चुकी और जहाँ उस शब्द या नाम का बारम्बार अभ्यास भी हो चुका तब समझ लो कि भक्तियोग में बहुत प्रगति की जा चुकी। उस नाम के जप से ही भक्ति की उच्चतम अवस्था भी प्राप्त हो जाएगी। "तेरे" अनन्त नाम है। उनके क्या अर्थ है सो "तू" ही समझता है। ये सब नाम "तेरे ही हैं और इनमे से प्रत्येक में तेरी अनंत शक्ति" है। इन नामो के जप के लिए न कोई विशेष काल चाहिए न कोई विशेष स्थान। सभी काल और सभी स्थान पवित्र हैं। "तू" इतना सुलभ है, 'तू" इतना दयालु है। मै कितना अभागा हूँ कि "तेरे" प्रति मुझमे प्रेम नहीं है॥ *

---

* नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिः
तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥ —श्रीकृष्ण चैतन्य

६. इष्ट

गत अध्याय में इष्ट के सम्बन्ध मे कहा गया है। उस इष्ट के सिद्धान्त को आप लोग ध्यान देकर सुनिए, क्योंकि इसे ठीक ठीक समझ लेने पर हम दुनिया के सभी भिन्न भिन्न धर्मों को समझ सकते है। इष्ट शब्द इष् धातु से बना है। इष् का अर्थ है अच्छा करना, पसंद करना, चुनना। सभी धर्मों का तथा सभी सम्प्रदायों का आदर्श मानव जाति का आदर्श एक ही है और वह है मुक्तिलाभ तथा दुःखों की निवृत्ति। जहाँ कहीं धर्म देखोगे वहाँ यही पाओगे कि इसी आदर्श को एक न एक रूप मे लेकर कार्य हो रहा है। यद्यपि धर्म की निचली श्रेणियों मे यह आदर्श उतने स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता, पर स्पष्ट हो या अस्पष्ट यही एक ध्येय है जिसकी ओर हम सब अग्रसर हो रहे हैं।

हम दुःखो से, प्रति दिन की आपत्ति इत्यादि से छूटना चाहते है और मुक्ति पाने के लिए भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक मुक्ति लाभ के लिए छटपटा रहे है। संसार इसी सब भावना को लेकर काम कर रहा है। उद्देश्य एक ही होते हुए वहाँ तक पहुँचने के मार्ग चाहे भले ही भिन्न भिन्न हों। ये मार्ग हमारी प्रकृति की विशेषताओं के अनुसार निश्चित किये जाते है। एक मनुष्य की प्रकृति भावुक, दूसरे की प्रकृति बुद्धिमयी और तीसरे की प्रकृति में कर्मशीलता है, इत्यादि इत्यादि। पुनः उसी प्रकृति में और भी अनेक प्रभेद हो सकते हैं। भक्ति के विषय में जिसका विशेष सम्बन्ध है उस प्रेम--

को ही उदाहरणार्थ लीजिए। एक मनुष्य की प्रकृति में बच्चे के लिए अधिक प्रेम हो सकता है, दूसरे की प्रकृति में पत्नी के लिए किसी में माता, किसी मे पिता तथा किसी मे मित्रों के लिए। कोई अपने देश के लिए प्रेम करता है। पर कुछ थोड़े से ही लोगों का प्रेम विशाल जन समुदाय या मनुष्य मात्र के प्रति हुआ करता है। ऐसे लोगो की संख्या यद्यपि बहुत कम होती है तथापि हर कोई इस प्रेम की बात तो जरूर ही करता है मानो यही उसके जीवन का मार्गदर्शक और प्रेरक शक्ति है। इस प्रकार के प्रेम का अनुभव कुछ सन्तों ने किया है। मानव समाज मे से कुछ महान् आत्माओं को ही इस सार्वजनिक या सर्वदर्शी प्रेम का अनुभव हुआ करता है और हमे यही आशा रखनी चाहिए कि यह संसार ऐसे महात्माओं से शून्य कभी भी न हो। हम देखते हैं कि एक ही साधन में साध्य की प्राप्ति के इतने भिन्न भिन्न मार्ग है। सभी क्रिस्तान ईसामसीह में विश्वास करते हैं, पर सोचो तो सही उनके बारे मे कितने भिन्न भिन्न विचार इन लोगों के होते हैं। हर एक चर्च या ईसाई सम्प्रदाय ईसामसीह को भिन्न भिन्न रूप मे देखता है, भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से देखता है। "प्रेसबिटेरियन" की आंखों में ईसा के जीवन का वह दृश्य महत्त्व का जँचता है जब कि वे सिक्का बदलने वालों के पास गए। उनकी आंखों में ईसा योद्धा ही जचते हैं। पर यदि तुम "क्वेकर" से पूछोगे तो वह शायद यही कहेगा कि "उन्होंने अपने शत्रुओं को क्षमा प्रदान की।" क्वेकर का यही मत है। इसी तरह और भी जानो। यदि रोमन कैथलिक से पूछो कि तुम्हें ईसामसीह की जीवनी का कौनसा अंश विशेष

प्रिय है तो वह शायद यही कहेगा कि जब " उन्होंने कुञ्जियां पीटर को दे दीं।" अस्तु।

इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय उन्हे अपने ही तरीके से देखने के लिए बाध्य है। इस से यह सिद्ध होता है कि इतने बहुत से भेद और प्रभेद एक ही मार्ग मे होगे। अज्ञानी लोग इनमे से किसी एक प्रभेद को ले लेते है और उसी पर अवलम्बित रहते है। और वे केवल इतना ही नहीं कि विश्व का अर्थ अपनी दृष्टि के अनुसार करके दूसरो के अर्थ का निषेध करते है वरन् यह कहने का भी साहस करते है कि दूसरो का मार्ग बिलकुल ग़लत है तथा सिर्फ उन्हीं का सत्य है। और यदि उनका कभी विरोध किया जाता है तो वे लड़ने लगते है। वे कहते है कि जिस मनुष्य का धार्मिक विश्वास उन्ही की तरह नहीं है उसे वे कत्ल कर डालेगे। ठीक वैसे ही जैसे कि कुछ धर्मान्धो ने भूतकाल मे किया है और भिन्न भिन्न देशों मे अब भी कर रहे है। ये लोग अपने को ही प्रामाणिक मानते है और शेष दूसरे सभी को कुछ नहीं समझते। पर इस भक्तियोग में हम किस भाव या भूमिका का आश्रय लेना चाहते हैं? हमे केवल यही नहीं करना चाहिए कि हम दूसरे लोगो से सिर्फ इतना ही कह दे कि तुम्हारा मार्ग ग़लत नहीं है—धर्मान्ध तो दूसरों से कह देते है कि तुम्हारा मार्ग ग़लत है—वरन् हमें एक श्रेणी और आगे बढ़कर उनसे यह कहना चाहिए कि आप जिन जिन मार्गों का अनुसरण कर रहे है वे सब ठीक है। आपकी प्रकृति के अनुसार जो मार्ग आपके लिए बिलकुल आवश्यक हो वही आप के लिए

ार्थ मार्ग है। अपने पूर्व जन्म के फल स्वरूप प्रकृति मे विशेष
कर हर एक मनुष्य पैदा होता है। चाहे उसे आप उसके
न्म के कर्मों का फल कहिए अथवा पूर्वजो से प्राप्त संस्क
ाप उसकी व्याख्या चाहे जैसी कीजिए पर हम है तो अ
के ही परिणाम। यदि कुछ भी सत्य है तो इतनी बात बिलकुल
सत्य है। चाहे वह अतीत अवस्था हमारे पास किसी भी मार्ग से
आई हो।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि हम मे से हरएक की वर्तमान दशा अपने भूतकालीन कारण का ही कार्य है। वर्तमान अतीत का ही फल है। और इसी कारण हम मे से प्रत्येक की विशेष गति, प्रत्येक की विशेष प्रवृत्ति होती है और प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करना होगा। यही मार्ग, यही तरीका जो हम मे से प्रत्येक की प्रवृत्ति के लिए अनुकूल है हमारा "इष्ट मार्ग" कहलाता है। यही "इष्ट" का तत्व है। और जो मार्ग हमारा है उसे हम अपना इष्ट कहते है। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य की ईश्वर के प्रति यह धारणा है कि वह (ईश्वर) विश्व का सर्व शक्तिसम्पन्न शासक है। सम्भवतः वह एक अहंकारी मनुष्य है और सब पर शासन करना चाहता है। इसलिए उस मनुष्य की प्रकृति इसी तरह की है। अत. वह स्वभावतः ईश्वर को सर्व शक्ति-सम्पन्न शासक मानता है। दूसरा मनुष्य जो कि शायद स्कूलमास्टर है और सख्त स्वभाव का है वह ईश्वर को न्यायी या दण्ड देने वाला ईश्वर मानता है। अन्य भावना नहीं कर सकता।

इस प्रकार हर एक व्यक्ति अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ईश्वर का एक रूप मानता है। और यही अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार निर्माण किया हुआ रूप हमारा इष्ट होता है। हम अपने को ऐसी अवस्था मे ले आये है जहाँ हम ईश्वर का वह रूप और केवल वही रूप देखते है; हम उसका कोई और रूप नही देख सकते।

आप कभी कभी शायद किसी मनुष्य को उपदेश देते सुनकर यह सोचेगे कि यही उपदेश सर्व श्रेष्ठ है और आप के बिलकुल अनुकूल है। दूसरे ही दिन अपने एक मित्र को उसके पास जाकर उसका उपदेश सुनने को कहिए पर वह तो यही विचार लेकर लौटता है कि आजतक उसने जितने उपदेश सुने उनमें सबसे निकृष्ट यही है। पर उसका ऐसा कहना गलत नहीं है और उसके साथ झगड़ा करना निरर्थक है। उपदेश तो ठीक था पर उस मनुष्य के उपयुक्त नहीं था। और भी अधिक व्यापक रूप से कहा जावे तो हमे यह समझ लेना चाहिए कि सत्य तो सत्य हो सकता है पर साथ ही साथ वह मिथ्या भी हो सकता है। इसमे विरोधाभास तो है पर याद रहे कि निरपेक्ष सत्य नो एक ही है पर सापेक्ष सत्य अनेक होना चाहिए। उदाहरणार्थ, इस संसार के सम्बन्ध मे ही अपनी भावना को लीजिए। यह विश्व एक निरपेक्ष अखण्ड वस्तु है जिस मे परिवर्तन नहीं हो सकता और न हुआ है। वह सदा एकरस रहता है पर आप, हम और हर कोई इस विश्व का अलग अलग रूप सुनते है और देखते है। सूर्य को ही लीजिए। सूर्य एक है पर जब आप और हम और

सौ अन्य मनुष्य भिन्न भिन्न स्थानो मे खड़े होकर सूर्य की ओर देखते है तो हम मे से प्रत्येक व्यक्ति सूर्य को अलग अलग तथा भिन्न भिन्न देखता है। स्थान का थोड़ा सा ही अन्तर सूर्य के दृश्य को मनुष्य के लिए भिन्न बना देता है। आबहवा मे थोड़ा सा हेर फेर हो जाये तो दृश्य में और भी भिन्नता आ जाएगी। इसी तरह सापेक्ष अनुभव द्वारा सत्य सदा अनेक दिखाई देता है। पर निरपेक्ष सत्य तो एक ही है। अतः जब दूसरे लोगों के धर्म का वर्णन बिलकुल हमारी ही भावना के अनुसार ठीक नहीं दिखता तब हमे उनसे लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि परस्पर विपरीत दिखते हुए भी हमारे और उनके दोनो के विचार सत्य हो सकते है। करोड़ो त्रिज्याएँ (radii) सूर्य के उसी एक केन्द्र की ओर जानेवाली हो सकती है। केन्द्र से जितनी दूरी पर दो त्रिज्याएँ होंगी उतना ही अधिक अन्तर उन दोनों में होगा परन्तु जब वे सब त्रिज्याएँ केन्द्र मे एक साथ मिलेगी तब सब भेद दूर हो जाएगा। ऐसा ही एक केन्द्र है जो मनुष्यमात्र का परम ध्येय है। ईश्वर ही ऐसा केन्द्र है। ह... सब त्रिज्याएँ है। हमारी प्राकृतिक मर्यादाएँ जिन के द्वारा ही केव... हम ईश्वर के स्वरूप को ग्रहण कर सकते है, वे ही इन त्रिज्याओं ... बीच के अंतर हैं। इस भूमिका पर खड़े रहते हुए उस परमतत्त्व के भिन्न भिन्न दृश्य हम में से प्रत्येक को दीख पड़ना अनिवार्य है। अतएव ये सभी दृश्य सत्य है और हम में से किसी को दूसरे से झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे मतभेदों को सुलझाने के लिए उस

केन्द्र के निकट पहुंचना ही एक मात्र उपाय है। बहस या लड़ाई द्वारा यदि हम अपने मतभेदो को दूर करना चाहते है तो सैकड़ो वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँचेगे। इतिहास इस बात का साक्षी है। सुलझने का एक ही मार्ग है और वह है आगे बढ़ना और केन्द्र की ओर जाना। और जितनी जल्दी हम ऐसा करेगे उतनी ही जल्दी हमारे मतभेद दूर हो जाएंगे।

इष्ट के इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि हर किसी को अपना धर्म स्वयं चुन लेने की स्वतंत्रता है। कोई भी मनुष्य दूसरे से ज़बरदस्ती अपने ही देवता की पूजा न करावे। सभी मनुष्यो को एक ही झुण्ड मे शामिल करने की चेष्टा करना, सभी को भेड़िया धसान की तरह हांककर एक ही कोठरी मे बंद करने का प्रयत्न, फौजीबल, ज़बरदस्ती या बहस द्वारा बलात् हर एक से उसी एक देवता की पूजा कराने के प्रयत्न भूतकाल मे निष्फल हुए हैं और भविष्य मे भी निष्फल होंगे, क्योंकि प्रकृतियो की विभिन्नता के कारण ऐसा हो सकना या ऐसा कर सकना असंभव है। यही नहीं, वरन् इस से मनुष्यो के विनाश होने की संभावना है। शायद विरला ही पुरुष या स्त्री ऐसी हो जो किसी न किसी धर्म के पालन की खटपट मे न लगी हो, पर सन्तोष कितनो को मिला है? कितने थोड़े लोगो को कुछ मिलता है? और ऐसा क्यों होता है? सिर्फ इसी लिए कि उनमे से बहुतेरे असंभव प्रयत्न करते है। वे इन मार्गों मे दूसरो के आदेश से ज़बरदस्ती डाल दिए गए हैं। उदाहरणार्थ—मेरे बचपन मे ही मेरे पिता मेरे हाथ में एक छोटी

सी पुस्तक दे देते है और कहते है ईश्वर इस प्रकार का है और यह ऐसा ऐसा है। मेरे मन में इन वातो को भर देने का उन्हें क्या प्रयोजन? मेरा विकास किस तरह होगा यह उन्हें क्या मालूम? मेरी प्रकृति की प्रगति कहाँ तक हुई है यह उन्हे विदित नही है तथापि वे अपने विचारो को मेरे दिमाग में घुसाना चाहते है। फल यही होता है कि मेरी उन्नति तथा मेरे मन का विकास रुक जाता है। आप किसी पौधे को उसके लिए जो जमीन उपयुक्त नहीं है उसमे नहीं वढ़ा सकते। वालक अपने आप ही सीख लेता है। आप तो उसे उसके ही मार्ग मे आगे वढ़ने के लिए सिर्फ सहायता दे सकते है। आप उसके लिए जो कर सकते है वह साक्षात् प्रकार का नहीं, वरन् अप्रत्यक्ष प्रकार का यानी विघ्न निवारण रूप हो सकता है। आप उसके मार्ग की कठिनाइयो को दूर कर सकते है; ज्ञान तो उसकी प्रकृति से ही उत्पन्न होता है। जमीन को कुछ पोली कर दो ताकि अंकुर आसानी से उग सके। उसके चारो ओर एक घेरा वना दो और ध्यान रखो कि कोई दूसरा उसे मार न डाले; पाला या वरफ से उसका नाश न होजावे। वस यहीं आपके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। और इससे अधिक आप कुछ नहीं कर सकते। शेप सव का तो उसकी प्रकृति के "भीतर" से ही विकास होना है।

यही वात वालक की शिक्षा के सम्वन्ध मे भी है। वालक स्वयं सीख लेता है। आप मेरी वाते सुनने आये है। घर

जाकर आप जो यहाँ सीखे है और यहाँ आने के पूर्व आप के मन मे जो था उन दोनो का मिलान कीजिए और तब आप को पता लगेगा कि यही बात तो आपने भी सोची थी; मैने तो केवल उस वात को प्रकट कर दिखाया है। मै आप को किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो आप स्वयं ही अपने को देगे। मै तो शायद आप को अपने उस विचार के प्रकट करने मे सहायता ही दे सकूँ। उसी प्रकार धर्म मे और उस से भी अधिक—धर्मशिक्षा मे मुझे अपना गुरु स्वयं ही बनना चाहिए। मेरे सिर मे तरह तरह की निरर्थक वाते भर देने का मेरे पिता को क्या अधिकार है? मेरे सिर मे ऐसी बातो को भर देने का मेरे मालिक को ही क्या अधिकार है? इन बातो को मेरे दिमाग मे ठूंस देने का अधिकार समाज को भी कैसे हो सकता है? संभव है ये विचार अच्छे हो पर मेरा मार्ग उनसे भिन्न हो। करोड़ो निर्बोध बालको की अन्तरात्माओ की जो हत्या हमारे उपदेश के ग़लत तरीको के कारण हो रही है तथा उनसे जो भयंकर अनिष्ट इस संसार मे हो रहा है उसका विचार तो कीजिए। कितनी ही सुंदर चीज़े जो आगे चलकर विशिष्ट धार्मिक सत्यता का रूप धारण करतीं उन्हे हमने वंशपरम्परागत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म इत्यादि की भयंकर भावनाओं द्वारा कालिका रूप मे ही विनाश कर डाला है। सोचिए तो सही अभी इसी क्षण मे भी आप के दिमाग मे कितनी मिथ्या कल्पनाएँ आप के बाल्यकाल के धर्म या अपने देश के धर्म के नाम से भरी हुई है और उनसे कितना अनिष्ट हो रहा है या हो सकता है। मनुष्य

यह नहीं जानता कि उससे कितना अनिष्ट हो सकता है। और यह अच्छा ही है कि वह इसे नहीं जान सकता। अन्यथा यदि वह इस बात को एक बार जान ले तो वह तो आत्महत्या कर बैठे। प्रत्येक विचार या कार्य के पीछे कितनी प्रबल प्रसुप्त शक्ति है उसे वह नहीं जानता। "जहाँ देवताओं को कदम रखने मे डर लगता है वहाँ मूर्ख लोग दौड़ पड़ते है" यह उक्ति बहुत सी सच है। इस बात पर प्रारम्भ से ही ध्यान रखना चाहिए। और वह किस तरह? इष्ट में विश्वास के द्वारा।

आदर्श तो इतने बहुत से है। मुझे कोई अधिकार नहीं कि आपका आदर्श क्या हो यह आपको बताऊं, आपके गले ज़बरदस्ती कोई आदर्श मढ़ दूँ और आप अपनी प्रकृति के अनुसार सब से अधिक किस आदर्श को पसन्द करते है इस बात के निर्णय करने मे आपको सहायता दूँ। जो आदर्श आपको सब से अधिक अनुकूल जॅचे उसे ही आप ग्रहण करें और उसी में अनवरत प्रयत्न करे। वही आपका "इष्ट" है, वही आपका विशेष आदर्श है। इस तरह हम देखते है कि सामूहिक धर्म कभी नहीं हो सकता। धर्म का यथार्थ कार्य तो स्वयं अपने ही चिन्तन का, अपने ही निश्चय करने का विषय है। मेरी अपनी एक भावना है। प्रथम तो मुझे उसको पवित्र और गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि मै जानता हूँ कि वही भावना आपकी भी हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरी बात यह है कि हर किसीको मै अपनी भावना के सम्बन्ध मे बताकर अशान्ति क्यों फैलाऊँ? दूसरे लोग आकर मुझ से लड़ेंगे। यदि मै उन्हें अपने

विचार न बताऊँ तो वे मुझ से नहीं लड़ सकते। पर यदि मै अपने विचार उन्हे बतलाता फिरूँगा तो वे अवश्य मेरा विरोध करेगे। अतः अपने विचारो को बतलाते फिरने का क्या उपयोग? इस इष्ट को तो गुप्त ही रखना चाहिए, क्योंकि यह तो आपके और ईश्वर के बीच की बात है। धर्म के सिद्धान्त सम्बन्धी अंशों का उपदेश आम तौर से जनता मे दिया जा सकता है और सामुदायिक भी बनाया जा सकता है पर उच्चतर धर्म सार्वजनिक रीति से प्रकट नहीं किया जा सकता। पाँच मिनट की सूचना पाते ही मै अपने धार्मिक भाव तैयार नहीं कर सकता। इस पाखण्ड और नकल का परिणाम क्या होता है? यह तो धर्म की हँसी उड़ाना है, घोर अधर्म है। फल वही होता है जो आप आज कल के गिर्जाघरो मे देखते है। इस धार्मिक कवायत मे मनुष्य कैसे टिक सकते है? यह तो फौजी छावनी के सिपाहियो का सा कार्य हुआ। हाथ उठाओ, घुटने टेको, किताब लो, सब कुछ एक साथ हुक्म के मुताबिक हो। दो मिनट भक्ति, दो मिनट ज्ञान चर्चा, दो मिनट प्रार्थना सब पूर्व निश्चित क्रम से हो। ये भयानक बाते है। शुरू से ही इन बातों से बचना चाहिए। धर्म के नाम से यह जो दिल्लगी हो रही है उसने असली धर्म को दूर भगा दिया है और यदि इसी प्रकार कुछ शताब्दियों तक और चला तो धर्म का तो पूरा लोप हो जाएगा। चर्चों में सिद्धान्त तत्वज्ञान इत्यादि का मनमाना उपदेश हुआ करे पर जब धर्म के यथार्थ व्यावहारिक अंश के पालन का समय आवे तब तो वैसा ही करना चाहिए जैसे ईसा मसीह ने कहा है, "जब तुम प्रार्थना करो तब अपने

कमरे के अंदर चले जाओ और दरवाजा बंद करलो और तब अपने परम पिता परमात्मा से गुप्त मे प्रार्थना करो। "

अतः इस इष्ट के सिद्धान्त का आप जैसे जैसे विचार करेगे वैसे वैसे पता लगेगा कि भिन्न भिन्न प्रकृतियो की आवश्यकता के अनुसार धर्म को व्यावहारिक बनाने का, दूसरों के साथ के झगड़ों के मौकों को टालने का और धार्मिक जीवन में यथार्थ व्यावहारिक प्रगति करने का यही एक मार्ग है। पर मैं आप को एक बात की चेतावनी देता हूँ कि मेरी बातों का कहीं अनर्थ मत कर बैठिए। मेरा कहना यह नहीं है कि आप गुप्त सभाएँ स्थापित कर लें। यदि शैतान कहीं हो सकता है तो मैं उसकी तलाश तो किसी गुप्त सभा के कमरे के अन्दर ही करूँगा। शैतान तो इन गुप्त सभाओ का विशेष आविष्कार है। गुप्त सभाएँ स्थापित करना शैतानी की कार्रवाई है। और यह इष्ट की भावना तो पवित्र है, गुप्त रखने की दूषित बात नहीं है।

आप को अपने इष्ट के विषय मे दूसरों से क्यों नहीं कहना चाहिए? कारण यही है कि वह आप की निजी पवित्र वस्तु है। उससे दूसरों को सहायता शायद मिल जाय पर यह आप को कैसे मालूम कि सहायता के बदले कहीं उन्हें उससे आघात तो नहीं होगा? सम्भव है कि कोई मनुष्य ऐसी प्रकृति का हो कि वह साकार ईश्वर की पूजा या उपासना नहीं कर सकता। वह केवल निराकार ईश्वर—अपने निज उच्चतम आत्मा—की ही उपासना कर सकता है। मान लीजिए कि मैं उसे आप लोगों के बीच ले आया और वह आप

लोगों को बताने लगा कि कोई साकार ईश्वर नहीं है वरन् आप मे और मुझ मे जो आत्मा है वही ईश्वर है। इसे सुनकर तो आप को बड़ा आघात पहुँचेगा। उसके विचार तो परम पवित्र है पर गुप्त नहीं है।

ऐसा कोई बड़ा धर्म या आचार्य नही हुआ जिसने ईश्वर विषयक सत्यो का उपदेश देने के लिए गुप्त सभाएँ स्थापित की हो। भारतवर्ष मे, ऐसी कोई गुप्त सभाएँ नही है। ये तो पाश्चात्यों की कल्पनाएँ है जो वे भारतवर्ष पर लादना चाहते है। हम तो ऐसी बाते कभी जानते तक नहीं थे। और भारतवर्ष मे गुप्त सभाएँ होवे भी किस लिए? यूरोप मे तो मनुष्यो को जो धर्म चर्च के मत के अनुसार न हो ऐसे धर्म के विषय मे एक शब्द तक उच्चारण करने की स्वतंत्रता नहीं थी। इसी कारण इन बेचारो को पर्वतों मे जाकर छिपकर गुप्त सभाएँ करने के सिवाय दूसरा चारा ही न था। ऐसा किये बिना ये लोग अपने मन के अनुसार उपासना ही नहीं कर सकते थे। भारतवर्ष मे ऐसा जमाना कभी नहीं था कि दूसरो से भिन्न मत रखने के कारण किसी मनुष्य पर अत्याचार हुआ हो। गुप्त धार्मिक सभाओ की स्थापना से बढ़कर भयानक कृत्य कल्पना में नहीं आसकता।

मैंने काफी दुनिया देख ली है और मैं जानता हूँ कि इन गुप्त सभाओ से कैसे कैसे अनिष्ट हुआ करते है और कितनी आसानी से ये सभाएं फिसल कर प्रेमी प्रेमिकाओ की सभा या भूतसभा का रूप धारण कर लेती हैं। इनमे मनुष्य दूसरे पुरुष या स्त्रियो के

चंगुल मे पड़कर कैसे नाचते हैं और विचार क्षेत्र में या कार्य क्षेत्र में उनकी भावी उन्नति की जितनी भी आशाएँ होती है वे सब किस तरह धूल में मिल जाती हैं इत्यादि इत्यादि। इन गुप्त सभाओं से होने वाले अनिष्टो को भी मै जानता हूँ। मेरी इन बातों से आप मे से कुछ लोगो को रंज होता होगा पर सच बात मुझे कहना ही चाहिए।

मेरे जीवन भर मे शायद आधे दर्जन पुरुष और स्त्री ही मेरा अनुकरण करेगे, पर ये लोग सच्चे पुरुष और स्त्री हो, पवित्र और नेकनियत हों; मुझे झुण्ड के झुण्ड अनुयायी नहीं चाहिए। झुण्डों से क्या लाभ? संसार का इतिहास कुछ थोड़े दर्जन मनुष्यो ने ही निर्माण किया है। ऐसे मनुष्यों की गणना उंगलियो पर की जा सकती है। बाकी लोग तो निकम्मे और शोरगुल मचाने वाले ही थे। इन सब गुप्त सभाओ से और उपद्रवी चीजों से पुरुष और स्त्री अपवित्र, दुर्बल और संकुचित बन जाते हैं। दुर्बलो की कोई इच्छा शक्ति नहीं रहती और वे कभी काम नहीं कर सकते। अतः ऐसी चीजों से कोई वास्ता ही न रखो। ये सब गुप्त रूप में विषय-वासनाएँ या मिथ्या रहस्य-प्रेम ही तो है और ये तो जब प्रथम बार ही आप के मन में प्रवेश करें तभी इनके सिर पर ठोकर मारकर इन्हे नष्ट कर देना चाहिए, क्योंकि मनुष्य किंचित् भी अपवित्रता के रहते धार्मिक नहीं बन सकता। पीब भरे घावों को गुलाब के फूलों के ढेर से ढाकने का प्रयत्न मत करो। क्या आप समझते है कि आप ईश्वर को ठग सकते हैं? ईश्वर को कोई ठग नहीं सकता। मुझे कोई सीधी

राह चलनेवाला प्रामाणिक पुरुष या स्त्री दो; और हे भगवन् ! मुझे इन भूतो, उड़नेवाले देवदूतों और शैतानो से बचाओ। सीधे सादे साधारण मनुष्य बनो।

हम मे एक सहज संस्कार है, यह और प्राणियो की तरह ही हम मे है—जिसके कारण, बिना जाने ही, बिना इच्छा किये ही हम यन्त्रवत् अंगो का संचालन किया करते है। तत्पश्चात् हम मे कार्यों की ओर प्रेरणा करने वाली उच्च वस्तु है जिसे हम तर्कशक्ति कहते है, जिसके द्वारा बुद्धि अनेक बातो को ग्रहण करके उन पर से कोई निष्कर्ष निकालती है। उससे भी उच्चतर रूप का एक और ज्ञान है जिसे हम Inspiration, स्फूर्ति (प्रतिभा), दिव्य दृष्टि या दिव्य ज्ञान कहते है जो तर्क नहीं करता और एक दमक या लपक (Flash) मे ही चीज़ो को जान जाता है। वही परमोच्च ज्ञान है। पर उसमे और नैसर्गिक स्वभाव मे अंतर किस तरह समझोगे यही बड़ा कठिन है। आजकल कोई भी मूर्ख आकर आप से कहने लगता है कि मुझे दिव्य ज्ञान हुआ है। वह कहता है, "मुझे दिव्य ज्ञान है, अतः मेरे लिए एक मन्दिर बनवा दो, मेरे पास झुण्ड के झुण्ड आओ, मेरी पूजा करो।" दिव्यज्ञान और धोखे बाजी को कैसे पहिचानें?

प्रथमतः दिव्य ज्ञान तो बुद्धि या तर्क के विपरीत नहीं होना चाहिए। वृद्ध मनुष्य बालक के विपरीत नहीं हुआ करता। वह तो बालक का ही विकसित, प्रौढ़ या उन्नत रूप होता है। जिसे हम दिव्य स्फूर्ति या दिव्य ज्ञान कहा करते है वह तर्क (बुद्धि) का ही

प्रौढ़ या उन्नत रूप है। दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग तो बुद्धि या तर्क के ही द्वारा है। दिव्य ज्ञान बुद्धि (या तर्क) के विपरीत नहीं होना चाहिए। जहाँ वह ऐसा हो तो उसे दूर कर दो। हमारे अंगो का जो संचालन बिना जाने हुआ करता है वह बुद्धि के विपरीत नहीं रहता। सड़क के एक ओर से दूसरी ओर जाते समय गाड़ियों के धक्के से बचने के लिए तुम किस तरह स्वभाव से ही कार्य करते हो! क्या तुम्हारा मन कहता है कि अपने शरीर को उस तरह बचाना मूर्खता का काम था? कभी नहीं कहता। यथार्थ दिव्य ज्ञान तो कभी भी बुद्धि या तर्क का विरोधी नहीं होगा। जहाँ ऐसा हो तो वह सब भ्रम जाल है।

द्वितीयत: ऐसा दिव्य ज्ञान हर किसी की भलाई के लिए होना चाहिए, न कि नाम या कीर्ति या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए। वह तो सदा संसार की भलाई के लिए होगा और सदा पूर्णतया नि.स्वार्थ ही होगा। जब इन कसौटियों मे वह दिव्य ज्ञान ठीक उतरे तब उसे दिव्य ज्ञान मानने में कोई हानि नहीं। संसार की इस वर्तमान परिस्थिति मे लाख में एक भी दिव्यज्ञानी या दिव्यदर्शी नहीं है यह स्मरण रक्खो। आज ऐसे बहुत कम लोग है पर मै आशा करता हूँ कि अब बहुत हो जाएंगे और आप में से प्रत्येक वैसा बन जाएगा। हम ने तो अभी धर्म की केवल खिलवाड़ मचा रक्खी है। दिव्य ज्ञान आते ही हमे धर्म प्राप्त होना आरंभ हो जाएगा। जैसे सेंट पॉल ने कहा है, "अभी तो हमे मानो कांच के भीतर से धुंधला दिखाई दे रहा है पर तब तो आँखों से प्रत्यक्ष देखेंगे।" पर संसार की वर्तमान अवस्था में ऐसे लोग इने गिने ही है जो उस पद को पहुँच चुके है।

तिस पर भी सम्भवतः आज के समान किसी दिव्य ज्ञान का झूटा दावा इतना अधिक नही हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि स्त्रियो को नैसर्गिक शक्तियाँ प्राप्त रहती है और पुरुष बुद्धि या तर्क द्वारा धीरे धीरे ज़बरदस्ती अपने को ऊपर खींच लाते है। इन कोरी बातो मे विश्वास मत करो, क्योकि दिव्य ज्ञान वाले पुरुषो की उतनी ही संख्या है जितनी स्त्रियो की। हाँ, स्त्रियॉ संभवतः तरह तरह के प्रलाप, मूर्छा या स्नायुरोग का अधिक दावा कर सकती है। धोखे-बाजो और जादूगारो की शिकार बनने की अपेक्षा तो नास्तिकता मे जीवन बिताना कहीं अच्छा है। तर्क-शक्ति तुम्हे उपयोग करने के लिए दी गई है। तब तुमने उसका उचित उपयोग किया यह दिखा दो। ऐसा करने से ही तुम वस्तुओ को संभाल सकोगे। हमे यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि "ईश्वर प्रेम स्वरूप" है। "गंगा किनारे बस कर जो पानी का छोटा सा कुँआ खोदता है वह मूर्ख नहीं तो और क्या है? हीरे की खान के समीप रहते हुए जो काच की गोलियां ढूंढने मे ही सारी जिन्दगी व्यतीत करता है वह सचमुच मूर्ख ही है।" ईश्वर तो हीरो की खान है।

हम सचमुच मे मूर्ख है जो भूत प्रेतों की उड़ने वाली योनियों को और उसी तरह की निरर्थक गप्पो के लिए ईश्वर का परित्याग करते है। इन भयानक जंतुओ के घोर भय में सतत जीवन व्यतीत करने के कारण और अद्भुत वार्ता की क्षुधा उत्तेजित रहने के कारण स्नायुयो मे और दिमाग मे कमजोरी आजाती है और मानव-जाति का अध.पतन होता है। ये सब उद्भ्रान्त कथाएँ

स्नायुओं को अप्राकृतिक रूप से अत्याधिक दवाव पहुँचाती है और धीरे धीरे परन्तु निश्चित रूप से इन विषयों से प्रेम रखने वाली जाति को वीर्यहीन बना देती है। सोचिए तो सही! कहाँ तो ईश्वर, शुद्धता, पवित्रता और धार्मिकता का परित्याग करना और कहाँ इन निरर्थक मूर्खता भरी वातों के पीछे दौड़ना!! कैसी भयावह बात है दूसरों के मन के विचारों की नकल करना! यदि मैं लगातार पाँच मिनट भी सभी दूसरो के विचारो की नकल करूँ तो मैं पागल हो जाऊंगा। अतः शक्तिशाली बनो, उठो और प्रेम रूपी ईश्वर की खोज करो। यही सर्वोच्च बल है। पवित्रता की शक्ति से बढ़कर कौन सी शक्ति हो सकती है? प्रेम और पवित्रता ये हीं दुनिया के शासक हैं। ईश्वर का यह प्रेम शक्तिहीनों द्वारा प्राप्य वस्तु नहीं है। अतः निर्बल (शक्तिहीन) मत बनो, शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक–कोई भी कमज़ोरी न रहने पावे। अकेला ईश्वर ही सत्य है। और अन्य सभी चीज़ें असत्य है। ईश्वर के लिए सभी वस्तुओं का त्याग करना चाहिए।

"ईश्वर पर प्रेम करना और एक उसी ईश्वर की सेवा करना–इसे छोड़ और सव मिथ्या है, व्यर्थ है, महान् ढोंग हैं।"

---

७. पूर्वभक्ति और परा भक्ति*

कुछ थोड़े से ही धर्मों को छोड़ प्रायः हर एक धर्म मे साकार ईश्वर की कल्पना पाई जाती है। बौद्ध और जैन धर्म को छोड़ शायद सभी धर्मों मे साकार ईश्वर की कल्पना है और उसी के साथ भक्ति और पूजा की भी। यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म मे साकार ईश्वर की उपासना नही की जाती तथापि वे लोग अपने धर्मों के प्रवर्तको को ही लेकर उनकी पूजा ठीक उसी तरह करते है जैसे अन्य धर्मो मे साकार ईश्वर की पूजा की जाती है। जिस व्यक्ति पर प्रेम करना होता है और जो व्यक्ति उसके उत्तर मे उस मनुष्य पर भी प्रेम कर सकता है ऐसे व्यक्ति की भक्ति और पूजा की कल्पना सर्वत्र पाई जाती है। प्रेम और भक्ति की यह कल्पना भिन्न भिन्न धर्मों मे भिन्न भिन्न मात्रा तथा भिन्न भिन्न श्रेणियो मे पाई जाती है। बाहरी अनुष्ठान की श्रेणी सब से निकृष्ट श्रेणी है, जहाँ कि मनुष्य के लिए सूक्ष्म विचारो का होना प्राय. असम्भव है; अत. वहाँ वह इन सब को स्थूल रूप मे ही परिणत कर देना चाहता है। इसी अवस्था मे कई प्रकार के आकार और उन्ही के साथ भिन्न भिन्न मूर्तियो का उद्भव होता है। संसार भर के इतिहास मे हम यही पते है कि मनुष्य भावात्मक आकारो या मूर्तियो द्वारा सूक्ष्म को ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहा है और धर्म के सभी बाह्य उपकरण—घंटी, संगीत,

---

* मैडिसन स्क्वेयर कनसर्ट हॉल न्यूयॉर्क मे ता. ९ फरवरी १८९६ को दिया हुआ भाषण।

अनुष्ठान, पुस्तको तथा मूर्तियो—का समावेश इसीके भीतर होता है। जो भी वस्तुएँ इन्द्रियो को रुचती है और जिनके द्वारा सूक्ष्म को स्थूल रूप देने मे मनुष्य को सहायता मिलती है उन सभी वस्तुओ का आश्रय पूजा या उपासना के लिए ग्रहण किया जाता है।

समय समय पर प्रत्येक धर्म मे ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए हैं जो सभी मूर्तियो और अनुष्ठानो का विरोध करते आये हैं पर उनके प्रयत्न निष्फल रहे है। कारण यह, कि हम देखते है कि जबतक मनुष्य जैसा है वैसा रहेगा तब तक मानव जाति के अधिकाश को किसी न किसी ऐसी स्थूल वस्तु के अवलंबन की जरूरत होगी—जिस वस्तु के मानो चारो ओर वे अपनी भावनाओ को स्थापित कर सके—ऐसी वस्तु जो मन के सभी भावनात्मक आकारो का केन्द्र हो सके। मुसलमानो ने और क्रिस्तानो मे प्रोटेस्टेट लोगों ने तो इस उद्देश से बड़े बड़े प्रयत्न किये है कि सब अनुष्ठान क्रियाएँ बंद हो जायँ, पर तो भी उन मे भी अनुष्ठान प्रवेश कर ही गया है। ये अनुष्ठान हटाये नहीं जा सकते। दीर्घ काल के प्रयत्न के पश्चात सर्व साधारण जनता मे केवल इतना ही परिवर्तन हो जाता है कि अनुष्ठान का स्वरूप एक की जगह दूसरा हो जाता है। मुसलमान लोग मुसलमानेतरों के प्रत्येक अनुष्ठान, आकार, प्रतिमा या विधि को पापात्मक मानते है पर जब वे स्वयं अपने मन्दिर "काबा" मे जाते है तब वे अपने इन विचारो को अलग कर देते है। प्रत्येक धार्मिक मुसलमान को नमाज़ पढ़ते समय अपने को काबा के मन्दिर मे खडा हुआ समझना पड़ता है और जब वह काबा की यात्रा करता है तब

वहॉ की दीवाल मे जो काला पत्थर है उसका उसे चुम्बन करना पड़ता है। और धारणा यह है कि कयामत के दिन लाखो और करोड़ो यात्रियो के इस पत्थर पर के ये चुंबनचिन्ह इन धार्मिक (ईमान वाले) व्यक्तियो के कल्याण के लिए साक्षी का रूप धारण करके उपस्थित हो जाएंगे। तत्पश्चात् वहॉ का जिमजिम कूप है। मुसलमानो का विश्वास है कि जो इस कूप का थोड़ा सा भी जल निकालता है उसके पाप क्षमा कर दिए जाते है, उसे नया शरीर मिलता है और पुनरुत्थान के पश्चात् वह सदा जीवित रहता है।

दूसरे लोगो मे हम देखते है कि यह साकारोपासना इमारतो का रूप धारण करती है। प्रोटेस्टेट समझते है कि उनके गिर्जाघर अन्य स्थानो से अधिक पवित्र है। उनका यह गिर्जाघर ही—जैसा भी है—मूर्ति के स्थान मे है। तत्पश्चात् उनका धर्मग्रथ भी है। अपने इस धर्मग्रंथ के प्रति उनकी भावना अन्य आकृतियों की अपेक्षा इसे अधिक पवित्र मानने की है। प्रोटेस्टेट लोगो मे क्रॉस के चिन्ह या मूर्ति को वही स्थान प्राप्त है जो कैथलिक लोगो के यहॉ साधुओ की मूर्तियो को है। अतः मूर्तियो के उपयोग के विरुद्ध उपदेश करना निरर्थक है। और हम मूर्तियों के विरुद्ध प्रचार करें भी क्यो? संसार मे मनुष्यो के सामने जो आकार या प्रतिमाऍ है उन आकारो के पीछे जो वस्तु या तत्त्व है उस तत्त्व के प्रतिनिधि रूप मे वे उन आकारो का उपयोग न करे, इसमे तो कोई युक्ति संगत बात दिखाई नहीं देती। यह सृष्टि भी तो एक मूर्ति ही है जिसमे और जिसके जरिये हम जिसकी वह मूर्ति है उस वस्तु

को—जो वस्तुसृष्टि के पीछे है और उससे परे है, ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहे है।

मानव प्रकृति की निचली श्रेणी में इस की आवश्यकता रहती है और इसलिए हम इसे बनाए रखने के लिए वाध्य है। हमारी यह सारी खटपट इसलिए है कि मूर्तियॉ जिस वस्तु की द्योतक है उस वस्तु को ही हम प्राप्त करे; भौतिकता के परे जाकर आध्यात्मिकता का लाभ करे। हमारा ध्येय तो आत्मवस्तु है, न कि सांसारिक या भौतिक पदार्थ। आकार, मूर्तियाँ, घंटियाँ, दीपक, पुस्तकें, गिर्जाघर, मंदिर तथा अन्य सब पवित्र निशानात या चिन्ह बहुत अच्छे हैं; ये सब आध्यात्मिकता के बढ़ते हुए पौधे के लिए सहायक होते हैं परन्तु केवल एक हद तक ही और उसके आगे नहीं। अधिकांश तो हम यही पाते हैं कि पौधा आगे बढ़ता ही नही। किसी धर्म-संप्रदाय में जन्म लेना तो अत्युत्तम है परन्तु उसमे मर जाना बहुत खराब है। जहॉ किसी प्रकार की नियमात्मक पूजाविधियो द्वारा आध्यात्मिकता के छोटे पौधे को सहायता मिलती है ऐसे सम्प्रदाय की मर्यादा के भीतर जन्म लेना तो बहुत अच्छा है, परन्तु यदि मनुष्य इन विधियों के बंधन के भीतर रहते ही रहते मर जावे तो पौधे की वृद्धि नहीं हुई; आत्मा का विकास नहीं हुआ इस बात का वह निश्चित प्रमाण है।

अतः यदि कोई कहे कि चिन्ह, अनुष्ठान, विधियॉ सदैव रखने की चीज़े है तो उसका यह कहना गलत है। पर यदि यह कहा जाय कि इन चिन्हो और अनुष्ठानो द्वारा विकास की निम्न श्रेणियों में सहायता मिलती है तो यह उक्ति यथार्थ है। हॉ, आत्मोन्नति का

अर्थ कोई बुद्धि का विकास मानने की भूल न करे। किसी मनुष्य की बुद्धि कितनी ही विशाल क्यो न हो पर आध्यात्मिक क्षेत्र मे वह सम्भवत: एक बालक या उससे भी गयाबीता ही हो। इसी क्षण आप उसकी परीक्षा कर सकते है। आप मे से कितने ऐसे है जिन्हे सर्व-व्यापित्व की कल्पना है यद्यपि आप लोगो को सर्वव्यापी ईश्वर मे ही बौद्धिक विश्वास करने के लिए सिखाया गया है! यदि आप बहुत प्रबल प्रयत्न करेगे तो इस सर्व-व्यापकता के भाव के लिए खींचतान करके आकाश की या हरेभरे विस्तृत मैदान की, या यदि आपने देखा होगा तो समुद्र की या मरुस्थल की कल्पना करेगे; पर ये सब भौतिक मूर्तियॉ है और जब तक आप सूक्ष्म को सूक्ष्म की ही, आदर्श को आदर्श की ही तरह मन मे नहीं ग्रहण कर सकते तब तक इन आकारो के मार्ग से—इन भौतिक मूर्तियो के द्वारा ही—चलना होगा—चाहे दिमाग के भीतर हो या बाहर—उससे कोई अंतर नहीं पड़ता।

आप सब जन्म से ही मूर्ति पूजक है और मूर्ति पूजा अच्छी चीज़ है, क्योकि वह मानव प्रकृति की बनावट ही के अन्तर्गत है। उसके परे जा कौन सकता है? केवल सिद्ध पुरुष (महात्मा) और ईश्वरी अवतार ही उसके परे जा सकते है। बाकी सब लोग तो मूर्तिपूजक ही है। जब तक आप अपने सामने अनेक रूप और अनेक आकृतियों सहित इस संसार को देख रहे है तब तक आप सभी मूर्तिपूजक है। दिमाग मे स्थूल मूर्तियॉ नहीं समाती, वहॉ तो किसी स्थान मे केवल थोड़ा सा स्फुरण (Sensation) ही हुआ

करता है। पर फिर भी आप इस संसार की–अनेक रंग-रूप और आकार युक्त–इस महान् चिन्ह रूप संसार की–मूर्ति किस तरह अपने सामने ले आते है? क्या यह संसार जिसकी आप उपासना कर रहे हैं एक विशालकाय मूर्ति नहीं है? जिसने यह कह दिया कि मै शरीर हूँ वह जन्मतः ही मूर्ति पूजक है। असल मे आप सब तो आत्मा है–आत्मा जिसका न रूप है, न रंग। आप सब अनन्त आत्मा ही है, भौतिक पदार्थ नहीं। अतः जो कोई अपने को शरीर या जड़ पदार्थ समझता है, सूक्ष्म का ग्रहण करने में असमर्थ है तथा जो अपने वास्तविक स्वरूप को तो सोच ही नहीं सकता और यदि सोचने का यत्न भी करता है तो केवल जड़ पदार्थ के सहारे ही–ऐसे मनुष्य को तो हम मूर्तिपूजक ही कहेंगे। फिर भी ये लोग एक दूसरे को मूर्तिपूजक (या बुत परस्त) कहकर आपस मे किस तरह लड़ा करते है? याने हर एक व्यक्ति अपनी ही उपास्य मूर्ति को सच बताता है और दूसरो की उपास्य मूर्ति को झूठ।

अतः आध्यात्मिक क्षेत्र मे जो लोग बच्चो के समान हैं उनके मूर्खतापूर्ण विचारों को हमे दूर कर देना चाहिए। हमें इन मनुष्यो की व्यर्थ बकवाद के ऊपर उठना चाहिए। ऐसे मनुष्य तो कुछ निःसार शाब्दिक विवादो को धर्म मानते है अथवा एक विशेष प्रकार के सिद्धान्त वाक्यो को ही धर्म समझते है। उनके लिए धर्म का मतलब कुछ बौद्धिक सम्मति या असम्मति ही होता है। उनके पुरोहित जो कुछ शब्द कह दिया करते है उनमें विश्वास करना ही उनका धर्म होता है। जिस बात में उनके पूर्वज विश्वास करते चले आये है

वही धर्म है। कुछ काल्पनिक विचार और अंध-विश्वास की बातो को ही वे धर्म जानते है। इन बातो मे वे इसी लिए चिपके हुए है कि उनकी जाति और सम्प्रदाय मे ये विचार पूर्वजो। हमे इन अवस्थाओ से ऊँचा उठना चाहिए और समस्त मानवसृष्टि को एक महान् शरीरी (Organism) मानकर उसे प्रकाश (ज्योति) की ओर क्रमशः अग्रसर होते हुए देखना चाहिए। अथवा ऐसा अनुमान करना चाहिए कि मानव-समुदाय एक अद्भुत पौधा है जो क्रमशः ईश्वर नामक उस अद्भुत सत्य की ओर अपना विकास कर रहा है। और उस सत्य की ओर अग्रसर होने में उसकी प्रारम्भिक प्रगति जड़ पदार्थ तथा अनुष्ठानो का सहारा लेते हुए ही होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और दूसरा कोई मार्ग नहीं।

इन सब अनुष्ठानो के अन्तर्गत एक मुख्य तत्व है जो अन्य सब बातो से श्रेष्ठ हैं। वह है ईश्वर के किसी भी नाम की उपासना। आप मे से जिन्होने ईसाई धर्म की पुरानी विधियो का अभ्यास किया होगा, जिन्होने संसार के भिन्न भिन्न धर्मों का अध्ययन किया होगा उनका सम्भवतः इस बात पर ध्यान गया होगा कि उन सब मे ईश्वर के नाम की उपासना का विधान है। वे सब उस नाम को अत्यन्त पवित्र बताते है। हिब्रु लोगो मे—आप ने पढ़ा है—ईश्वर के नाम को यहाँ तक पवित्र मानते थे कि साधारण मनुष्य द्वारा या साधारण प्रसंगो पर उस नाम का उच्चारण तक नहीं किया जा सकता था। उस नाम मे अनुपम पवित्रता थी। वह नाम सब से अधिक पवित्र था। सब नामो से अधिक पवित्र वह था। और वे सभी इस नाम को ही ईश्वर समझते थे। और यह बात सत्य भी है; कारण

कि नाम और रूप के सिवाय यह सृष्टि और है ही क्या? क्या आप बिना शब्दों के विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं किए जा सकते। यदि आप में से कोई इन दोनों को अलग कर सकते हैं तो प्रयत्न कीजिए। जब कभी आप विचार करते हैं तो शब्दों के रूप द्वारा ही विचार करते हैं। शब्द भीतरी अंश है और विचार बाह्य अंश। और ये, दोनों नित्य एकत्र रहते हैं, अलग नहीं हो सकते। एक दूसरे को लाता है। विचार शब्द को लाता है और शब्द विचार को। इसी प्रकार यह समस्त संसार मानो बाह्यरूप है और इसके पीछे ईश्वर का वह महान् नाम प्रतिष्ठित है। प्रत्येक शरीर एक रूप है और उस शरीर के पीछे उसका एक नाम भी है। अपने मित्र के विषय में ज्यों ही आप विचार करते हैं त्यों ही आपके सामने उसके शरीर की कल्पना आजाती है और उसके साथ उसके नाम की कल्पना भी लगी हुई, जुड़ी हुई होती है। यही तो मनुष्य की प्रकृति है। कहने का मतलब मानस शास्त्र के अनुसार यही है कि मनुष्य के मानसिक क्षेत्र में रूप की कल्पना के बिना नाम की कल्पना और नाम की कल्पना के बिना रूप की कल्पना ठहर सके ऐसा कभी नहीं हो सकता। ये अलग अलग नहीं किए जा सकते। ये दोनों उसी तरंग के भीतरी और बाहरी पहलू हैं। इसी कारण संसार में सर्वत्र नाम को इतना उच्च मानते हैं और सर्वत्र नाम की उपासना की जाती है। जान में या अनजान में नाम की यह महिमा मनुष्य के हाथ लगी।

इसके बाद हम देखते है कि बहुत से धर्मों में पवित्र महापुरुषो की पूजा होती है। वे लोग श्रीकृष्ण की पूजा करते है, बुद्ध की पूजा करते है, ईसा की पूजा करते है इत्यादि इत्यादि। फिर साधुओ की पूजा होती है। समस्त संसार में सैकड़ो साधुओ की पूजा होती है। और इनकी पूजा क्यो न हो? प्रकाश का स्फुरण तो सर्वत्र है। उल्लू अंधकार मे देखता है। इस से यह सिद्ध होता है कि अंधकार मे भी प्रकाश है। पर अंधेरे मे मनुष्य को दिखाई नहीं देता। हॉ, मनुष्य के लिए उस स्फुरण या स्पन्दन को ग्रहण करना तभी संभव होता है जब वह ऑख के ज्ञान तन्तुओ मे प्रभाव पैदा करने लायक हद्द तक उग्र हो जाता है। जैसे कि दीपक मे, सूर्य मे या चंद्र मे, होता है। ईश्वर सर्व व्यापी है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर अपने को व्यक्त करता है पर मनुष्य के लिए तो वह (ईश्वर) मनुष्य मे ही दिख सकता है और पहचाना जा सकता है। जब उस (ईश्वर) का प्रकाश, उसकी व्यापकता, उसकी आत्मा मनुष्य के दिव्य चेहरे के भीतर चमकती है तभी और केवल तभी मनुष्य उसे (ईश्वर को) समझ पाता है। इस प्रकार मनुष्य सदैव ईश्वर की पूजा मनुष्यो के जरिये ही करता आया है और जब तक वह स्वयं मनुष्य बना रहेगा तब तक इसी तरह उस (ईश्वर) की पूजा करता रहेगा। वह चाहे इस के विरुद्ध चिल्लाए, खटपट करे, पर ज्योंही वह ईश्वर के साक्षात्कार का प्रयत्न करेगा त्योंही उसे दिखेगा कि ईश्वर को मनुष्य ही समझना उसकी प्रकृति के लिए आवश्यक है।

इस तरह हम देखते है कि ईश्वर की पूजा में तीन बातें मुख्य

है—जैसा कि प्रायः प्रत्येक धर्म में होता है; प्रतिमा या रूप, नाम और अवतार। सभी धर्मों में ये बातें किसी न किसी रूप में पाई जाती हैं पर तो भी तुम देखोगे कि वे आपस में लड़ना चाहते हैं। एक कहता है, "संसार में मेरा भगवन्नाम ही—एक सत्य नाम है; मेरा भगवद्रूप ही अकेला सच्चा स्वरूप है; मैं मानता हूँ कि मेरे वही ईश्वर-अवतार सच्चे अवतार हैं और तुम्हारे सब मिथ्या हैं।" आजकल ईसाई पादरी लोग अपने विचारों में कुछ मेहरबान होगए हैं; वे कहने लगे हैं कि प्राचीन धर्मों में उनके स्वयं के धर्म का—जो उनके कथनानुसार एक मात्र सच्चा धर्म है—कुछ न कुछ आभास अवश्य मिलता है। उनकी यह धारणा है कि उन विभिन्न प्राचीन धर्मों द्वारा ईश्वर ने स्वयं अपनी परीक्षा ली तथा भिन्न भिन्न रूपों द्वारा अपनी शक्तियों की जाँच की, यहाँ तक कि अन्त में वह अपने को ईसाई धर्म में ही पूर्ण रूप से प्रकट करने में सफल हो सका। यह स्थिति पुराने विचारों से कम से कम एक कदम आगे अवश्य है। पचास वर्ष पूर्व उन्होंने इतना भी न कहा होता। तब तो अपने धर्म को छोड़ बाकी किसी चीज़ को वे मानते ही न थे। उनका अपना धर्म ही सर्वस्व था। यह विचार केवल एक धर्म-वालों का, एक राष्ट्र का, या अमुक मानसिक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों के किसी एक समूह का ही हो ऐसा नहीं है। लोग सदा यही सोचते हैं कि वे जो करते हैं वही एक करने की चीज़ है—और यहीं पर हमें भिन्न भिन्न धर्मों के अध्ययन से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वे ही विचार दूसरों में भी सैकड़ों वर्ष पूर्व विद्यमान थे और कभी कभी तो हमारी अपेक्षा उनके द्वारा वे विचार अधिक अच्छे प्रकार से ... किए गए थे।

ये भक्ति के बाहरी अनुष्ठान है जिनके मार्ग से मनुष्य को जाना पड़ता है। पर यदि वह सच्चा है और यथार्थ में सत्य वस्तु को प्राप्त करना चाहता है तब वह इन से उच्चतम भूमिका मे पहुँचता है जहाँ कि ये अनुष्ठान कोई चीज़ नहीं है। मंदिर या गिर्जाघर, पुस्तके या अनुष्ठान, ये सब धर्म की बाल शिक्षाएँ है जो उस धर्मक्षेत्र के बालक को उच्चतर भूमिका में क़दम रखने लायक शक्तिशाली बनाती है। और यदि धर्म की उसे आकांक्षा है तो उसके लिए ये पहले क़दम—ये प्रथम सोपान (या सीढ़ियाँ) आवश्यक है। ईश्वर के लिए पिपासा, ईश्वर प्राप्ति के लिए व्याकुलता होने से सच्चा अनुराग, सच्ची भक्ति उत्पन्न होती है। पर यह व्याकुलता किसको है? यही तो प्रश्न है। सिद्धान्तवाद, या बौद्धिक विवाद मे धर्म नहीं है। धार्मिक "होना" और "बन जाना" धर्म है। प्रत्यक्ष "अनुभव करना" धर्म है। तद्रूप और तन्मय होना धर्म है। साक्षात्कार करना धर्म है। हम हर एक को ईश्वर, आत्मा और विश्व के सभी रहस्यो की बाते करते सुनते है, पर यदि आप उनमे से एक एक को लेकर यह पूछते जॉय कि "क्या तुमने ईश्वर का साक्षात्कार किया है? अपनी आत्मा को देखा है?" तो उनमें से कितने लोग "हॉ" कहने का साहस करेंगे? इतना होते हुए भी वे सब आपस मे लड़ रहे है। एक बार भारतवर्ष मे सभी सम्प्रदायो के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और विवाद करने लगे। एक ने कहा कि "शिव ही एक मात्र ईश्वर है।" दूसरा बोल उठा, "एक मात्र ईश्वर तो विष्णु ही है।" इसी प्रकार उनके विवादो का कोई अंत ही नहीं था।

उसी मार्ग से एक ऋषि जा रहे थे। इन विवादकों ने उन्हें निर्णय करने के लिए बुलाया। ऋषिवर वहाँ गये और उन्होंने शिव के ही सब से बड़े ईश्वर होने का दावा करनेवाले मनुष्य से पूछा, "क्या तुमने शिव को देखा है? क्या उनसे तुम्हारा परिचय है? यदि ऐसा नहीं है तो तुम कैसे जानते हो कि वे ही सब से बड़े ईश्वर है?" तत्पश्चात् उन्होंने विष्णु के उपासक की ओर देखकर उससे भी वही प्रश्न किया, "क्या तुमने विष्णु को देखा है?" इसी तरह बारी बारी से उन्होंने प्रत्येक से प्रश्न किया। तब पता लगा कि उनमें से कोई भी ईश्वर के विषय मे कुछ भी नहीं जानता था। इसी कारण वे इतना झगड़ा कर रहे थे। यदि उन्हे यथार्थ ज्ञान होता तो वे बहस न करते। पानी भरते समय खाली घड़ा आवाज़ करता है, पर जब घडा भर जाता है तब आवाज़ बंद हो जाती है। अतः इन संप्रदायो में बहस और झगड़ों का होना ही यह सिद्ध करता है कि ये लोग धर्म को कुछ जानते ही नहीं। उनके लिए तो धर्म का अर्थ है पुस्तकों में लिखने के लिए कुछ निरर्थक शब्दों का संग्रह मात्र। हर एक को एक बृहद्ग्रंथ लिखने की जल्दी पड़ी है। जहाँ हाथ लग जाय उसी पुस्तक से सामग्री चुराकर और किसी का ऋण बिना स्वीकार किए ही अपने ग्रंथ को जहाँतक हो बृहत्काय बनाने की धुन उन पर सवार रहती है। तत्पश्चात् वह अपनी पुस्तक को संसार में प्रचलित करके वहाँ की वर्तमान अशांति में और भी वृद्धि कर देता है।

बहुत से लोग तो नास्तिक है। इस ज़माने में पश्चिमी दुनिया में नास्तिकों का एक और दल—जड़वादी—उत्पन्न हुआ है इस

की मुझे खुशी है। ये जड़वादी लोग निष्कपट नास्तिक है। धार्मिक नास्तिक लोग कपटी होते हैं, धर्म की बाते करते है, धर्म के लिए लड़ते है पर उन्हे धर्म की आकांक्षा नही है। उन्हें धर्म की "चाह" नहीं है। वे कभी धर्म का "साक्षात्कार" करने का प्रयत्न नहीं करते। वे धर्म को "समझने" की कोशिश नहीं करते। ऐसे धार्मिक नस्तिको से जड़वादी नास्तिक अच्छे हैं। क्राइस्ट के उन वचनों को याद रक्खो, "माँगो और वह तुम्हे दे दिया जाएगा, ढूँढ़ो और तुम पाओगे, खटखटाओ और तुम्हारे लिए दरवाजा खोल दिया जाएगा।" ये शब्द अक्षरशः सत्य है। न तो ये रूपक है और न काल्पनिक ही। ये शब्द ईश्वर के सब से बड़े पुत्रो मे से एक पुत्र के है जिसका हमारे संसार मे अवतार हुआ था। ये शब्द उसके हृदय के रक्त के बाह्य प्रवाह है। ये शब्द साक्षात्कार के फलस्वरूप मिले थे। पुस्तको से उध्दृत किए हुए नहीं थे। ये शब्द उन महापुरुप से प्राप्त हुए है जिन्होने ईश्वर का अनुभव प्राप्त किया था; स्वयं परमात्मा का साक्षात्कार किया था; जिस महापुरुप ने ईश्वर से बातें की थीं, जो ईश्वर के साथ रहते थे, जिन्हो ने ईश्वर को—हम आप जिस प्रकार इस इमारत को देख रहे है उससे भी सौगुना अधिक प्रत्यक्ष—देखा था।

पर ईश्वर की चाह किसे है? यही प्रश्न है। क्या आप समझते है कि संसार का इतना जन समुदाय ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखते हुए भी ईश्वर को नहीं पा सकता? यह असम्भव है। ऐसी कौनसी इच्छा है जिसको पूर्ण करने वाला पदार्थ बाहर नहीं है। मनुष्य साँस लेना चाहते हैं और उनके साँस लेने के लिए

हवा मौजूद है और उनके खाने के लिए अन्न विद्यमान है। इन इच्छाओं को, इन आकांक्षाओं को कौन उत्पन्न करता है? इन बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व ही इन आकांक्षाओं को उत्पन्न करता है। प्रकाश के ही कारण आँखों की उत्पत्ति हुई और शब्द के ही कारण कान की। इस प्रकार मानव प्राणी की समस्त आकांक्षाओं की उत्पत्ति किसी न किसी बाहर रहनेवाले पदार्थ के ही कारण हुई है। अतएव पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने की, इष्ट ध्येय तक पहुँचने की तथा प्रकृति के परे जाने की आकांक्षा भी तो किसी न किसी वस्तु (ईश्वर) के अस्तित्व के कारण ही उत्पन्न हुई होगी, उसी के कारण तो इन आकांक्षाओं का हमारी आत्मा में मानो प्रवेश हुआ है तथा आज वे वहाँ स्थित हैं। अतएव जिस मनुष्य में ऐसी आकांक्षा जागृत हो उठी है वह उस उद्देश्य को अवश्य प्राप्त करेगा। पर यह आकांक्षा है किसमे? हमें ईश्वर के सिवाय बाकी सभी चीज़ों की आकांक्षा है। यह जो अपने चारों ओर देखते हो वह धर्म नहीं है। मेरी गृहिणी का दीवानखाना दुनिया के सभी स्थानों से आई हुई क़िस्म क़िस्म की चीज़ों से सजा है। पर आजकल का फैशन है कि कुछ जापानी चीज़ें भी चाहिए, इसलिए वह एक जापानी पुष्पपात्र (vase) मोल लेकर उसे भी वह अपने कमरे में स्थापित करती है। अधिकांश मनुष्यों का धर्म इसी प्रकार का है। उपयोग की सभी वस्तुएँ उनके पास हैं पर धर्म के थोड़े से स्वाद के बिना जीवन मे कुछ कमी आजाती है और समाज भी निंदा करता है अतः कुछ धर्म भी चाहिए। संसार में धर्म की यही वर्तमान अवस्था है।

एक शिष्य अपने गुरु के पास गया और बोला, "गुरुदेव ! मुझे धर्म चाहिए।" गुरुजी उस युवक की ओर देखकर कुछ नहीं बोले, केवल मुस्करा दिए। युवक प्रतिदिन आता था और ज़ोर देकर कहा करता था कि मुझे धर्म चाहिए। पर उस वृद्ध को इस युवक से अधिक ज्ञान था। एक दिन बहुत गरमी पड़ रही थी। गुरु ने उस युवक से कहा, "चलो मेरे साथ नदी को; वहाँ डुबकी लगाना।" युवक नदी मे कूद पड़ा और गुरुजी भी उसके पीछे चले। गुरुजी ने बलपूर्वक उस युवक का सिर कुछ समय पानी के अंदर ही दबाकर रक्खा और जब कुछ देर तक वह युवक पानी के भीतर ही हड़बड़ा चुका तब गुरुजी ने उसे छोड़ दिया और पूछा, "क्योजी, तुम पानी के अन्दर थे तब तुम्हें सब से अधिक आवश्यकता किस चीज़ की मालूम होती थी ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "एक साँस की।" "क्या तुम्हे ईश्वर की आवश्यकता उसी प्रकार है ? और यदि है, तो तुम उसे (ईश्वर को) एक क्षण मे पाजाओगे।" जब तक तुम्हे वही पिपासा, वही तीव्र व्याकुलता, वही लालसा नहीं होती तब तक तुम अपनी बुद्धि द्वारा, पुस्तकों के ज़रिये, या अनुष्ठानों के मार्ग द्वारा कितनी भी खटपट करो, तुम्हे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक तुम में ऐसी धर्म पिपासा जागृत नहीं होती तब तक तुम नास्तिक से किसी तरह श्रेष्ठ नहीं हो। अन्तर तुम में और नास्तिक मे इतना ही है कि नास्तिक निश्छल (सच्चे हृदय का) है और तुम मे वह गुण भी नहीं है।

एक महापुरुष कहा करते थे, "मान लो एक कमरे में चोर

है। उसे किसी तरह यह मालूम हो गया कि उसके बाजू के ही कमरे मे स्वर्ण की एक बड़ी राशि रखी हुई है और इन दोनो कमरो के बीच की दीवाल बहुत पतली है। अब उस चोर की क्या अवस्था होगी? उसकी नींद भाग जाएगी, उसकी भूख भाग जाएगी और वह कोई काम भी न कर सकेगा। उसकी सारी चिन्ता यही रहेगी कि यह स्वर्ण कैसे प्राप्त हो, वह सदा यही सोचेगा कि इस दीवाल मे कैसे छेद करूँ और उस सोने की ढेरी पर हाथ मारूँ। क्या आप यह कहते है कि इन सब मनुष्यो को यथार्थ में ऐसा विश्वास है कि सुख की खान आनन्दकन्द, वैभव का खजाना,—स्वयं परमेश्वर—यहाँ है, और ऐसा विश्वास होते हुए भी ये लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करके संसार मे इस तरह व्यवहार—जैसा अभी कर रहे है—करते है?"

ज्योंही मनुष्य यह "विश्वास" करना आरम्भ कर देता है कि "ईश्वर है" त्योंही वह ईश्वर को प्राप्त करने की प्रबल लालसा से पागल हो जाता है। दूसरे लोग भले ही अपनी अपनी राह से जावें, पर ज्योंही मनुष्य को निश्चय हुआ कि वह यहाँ जिस तरह का जीवन व्यतीत कर रहा है उससे उच्चतर जीवन और भी है, ज्योंही उसे निश्चय रूप से अनुभव होगया कि इन्द्रियाँ ही सब कुछ नहीं है, यह अन्त होने वाला जड़ शरीर उस अमर, शाश्वत, अविना[illegible] आत्मसुख से तुलना करने पर कुछ भी नहीं है तो जब तक वह [illegible] सुख को अपने लिए प्राप्त न करलेगा तब तक पागल हो जाय[illegible] और यही पागलपन, यही पिपासा, यही धुन धर्म के प्रति "जागृ[illegible]

कहलाती है। और जिस समय मनुष्य की यह अवस्था हो जाती है तभी से उसके धार्मिक जीवन का आरम्भ होता है। पर इस अवस्था को पहुँचने के लिए बहुत समय लगता है। ये विधियाँ और अनुष्ठान, प्रार्थना और तीर्थयात्रा, शास्त्राध्ययन, घंटानाद, आरती, पुरोहित ये सब पूर्व तैयारी के साधन है। ये सब आत्मा की मलीनता को दूर कर देते है और जब आत्मा पवित्र या शुद्ध हो जाती है तब तो आत्मा का सहज स्वभाव है कि वह अपने उत्पत्तिस्थान--पवित्रता की खान स्वयं परमात्मा--के पास पहुँचना चाहती है। जैसे लोहे का टुकड़ा सदियो की धूल स ढँका सदा चुम्बक के समीप पड़ा रहता है और चुम्बक उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करता, पर धूल को हटा कर लोहे को साफ करते ही लोहा चुम्बक की ओर खिंच जाता है उसी प्रकार कई ज़माने की धूल--अपवित्रता, दुष्टता और पापो--से ढँका हुआ मनुष्य का जीवात्मा अनेक जन्मो के पश्चात् इन विधियो और अनुष्ठानो को ग्रहण करके दूसरो की भलाई करते करते, अन्य प्राणियो पर प्रेम करते करते जब पर्याप्त शुद्धता को प्राप्त होजाता है तब उसकी स्वाभाविक आध्यात्मिक आकर्षण शक्ति प्रकट होती है और जीवात्मा जाग उठता है और परमात्मा की ओर जाने की प्रबल चेष्टा करता है।

फिर भी ये सब अनुष्ठान और मूर्तियो की उपासना प्रारम्भ मात्र है, ईश्वर का सच्चा प्रेम नही है। प्रेम की बात तो सर्वत्र सुनाई पड़ती है, हर कोई कहता है, ईश्वर से प्रेम करो। पर मनुष्यो को मालूम नहीं कि प्रेम है क्या। यदि वे इसे

ते तो उसके विषय में ऐसी निठल्ली बातें न करते। हर कोई
ता है कि मैं प्रेम कर सकता हूँ, परन्तु पाँच मिनट में ही
। चल जाता है कि उसके स्वभाव में प्रेम नहीं है। प्रत्येक
, यही कहती है कि वह प्रेम कर सकती है पर तीन मिनट
ही उसे पता लग जाता है कि, मैं प्रेम नहीं कर सकती। संसार
प्रेम की बातों से भरा पड़ा है पर प्रेम करना बड़ा कठिन है, प्रेम
कहाँ है? प्रेम है यह तुम कैसे जानते हो? प्रेम का प्रथम लक्षण
यह है कि उसमे व्यापार या सौदागरी न हो। जब तक तुम किसी
मनुष्य को किसी चीज़ के पाने की इच्छा से प्रेम करते देखो तब
तक तुम यही जानलो कि वह प्रेम नहीं है; वह तो दूकानदार का
प्रेम है। जहाँ सवाल खरीद और बिक्री का है वहाँ कोई प्रेम नहीं
रह जाता। अतः जब कोई मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है, "मुझे
यह दो, मुझे वह दो" तो वह प्रेम नहीं है। वह प्रेम कैसे हो
सकता है? मैं तुम्हे एक प्रार्थना सुनाता हूँ और तुम मुझे उसके
बदले कुछ दो। यह तो वही निरी दूकानदारी की बात हुई। एक
महाराजा जंगल में शिकार खेलने गए वहाँ एक संत से उनकी भेंट
होगई। उन दोनों में कुछ थोड़ा सा वार्तालाप हुआ। महाराजा उन
संत महाराज से इतने प्रसन्न होगए कि वे उनसे कुछ पुरस्कार स्वीकार
करने के लिए कहने लगे। संत बोले, "नहीं, मुझे अपनी वर्तमान
स्थिति से पूर्ण संतोष है, ये वृक्ष मुझे खाने को फल देते हैं, ये सुंदर
निर्मल नदियाँ मुझे यथेष्ट जल दिया करती है, गुफाओं में मैं शयन
करता हूँ, आप महाराजा है तथापि मुझे आप के पुरस्कार की परवाह
नहीं है।" महाराजा बोले, "केवल मुझे पवित्र करने के लिए, मुझे

संतोष देने के लिए आप कुछ पुरस्कार कृपया लेले और मेरे साथ मेरी राजधानी को चले।" निदान वे संत महाराजा के साथ चलने के लिए राजी होगए। और महाराजा उन्हे अपने राजमहल मे लिवा लाये। वह महल सोना, जवाहिरात, मणि-माणिक्य और तरह तरह की अद्‌भुत वस्तुओ से परिपूर्ण था। वहॉ दौलत और शक्ति सर्वत्र दिखाई देती थी। महाराजा ने संत से कहा, "आप एक मिनट ठहरिए, मै ईश्वर की प्रार्थना करलूं।" ऐसा कहकर महाराजा एक कोने मे चले गए और प्रार्थना करने लगे, "हे ईश्वर! मुझे और भी अधिक धन, संतति और राज्य दे"–आदि आदि। इतने मे ही सन्त उठ खड़े हुए और जाने लगे। महाराजा ने उन्हे जाते देखा और वे भी उनके पीछे चले और कहने लगे, "ठहरिये महाराज! आपने मेरा पुरस्कार तो लिया ही नहीं और आप चले कहॉ?" संत ने उसकी ओर मुंह फेर कर कहा, "ऐ भिखारी! मै भिखारियो से भीख नहीं मॉगता; तुम क्या दे सकोगे? तुम तो खुद ही सदा भीख मॉगते आये हो और मॉग ही रहे हो।" यह प्रेम की भाषा नहीं है। यदि आप ईश्वर से यह दो, वह दो, यही मॉगते रहे तो प्रेम और दूकानदारी मे अन्तर ही क्या रहा? प्रेम का प्रथम लक्षण यही है कि वह सौदा करना नही जानता। वह तो सदा देता ही है। प्रेम सदा देनेवाला होता है, लेनेवाला कभी नहीं बनता। भगवत्पुत्र कहता है, "यदि भगवान् चाहे तो मै अपना सर्वस्व उन्हे देदूं पर मुझे उनसे कोई वस्तु नहीं चाहिए। मैं उनसे प्रेम करना चाहता हूँ, इसी लिए प्रेम करता हूँ, उसके बदले मे मै उनसे कुछ नहीं मॉगता।" ईश्वर सर्व शक्तिमान् है या नही इसकी मुझे परवाह नहीं। मुझे न

उनकी कोई शक्ति चाहिए न उनकी शक्ति का प्रदर्शन। वे प्रेम के भगवान् हैं, अर्थात् भगवान् प्रेममय है इतना ही मेरे लिए बस है। मै और कोई प्रश्न नहीं पूछता।

द्वितीय लक्षण यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रेम मे डर हो ही कैसे सकता है? क्या बकरी शेर पर, चूहा बिल्ली पर या गुलाम मालिक पर प्रेम करता है? गुलाम लोग कभी कभी प्रेम दिखाया करते हैं पर क्या वह प्रेम है? क्या डर में आपने कभी प्रेम देखा है? ऐसा प्रेम सदा बनावटी रहता है। जब तक मनुष्य की भावना यह है कि ईश्वर बादलो के ऊपर बैठा है, एक हाथ मे वह पुरस्कार लिए है और दूसरे मे दण्ड, तब तक प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम के साथ भय अथवा किसी भयदायक वस्तु का विचार नहीं आता। मान लो एक युवती माता सड़क से जारही है और एक कुत्ता उसकी ओर भौकने लगा तो वह पास वाले मकान के अंदर चली जाती है। दूसरे दिन मान लो सड़क मे जाते समय उसके साथ उस का बच्चा भी है और सिंह उस बच्चे पर झपटता है तब वह माता कहाँ जाएगी? तब तो वह माता अपने बालक की रक्षा करते करते उसी सिंह के मुख में प्रवेश कर जाएगी। प्रेम सारे भय को जीत लेता है। उसी तरह ईश्वर का प्रेम भी है। भगवान् वरदाता है या दण्डदाता है इसकी किसे परवाह है? प्रेमी का विचार इस प्रकार का नहीं रहता। एक न्यायाधीश जब अपने घर आता है तब उसकी पत्नी उसे किस भाव से देखती है? उसे वह न्याय करने वाला, पुरस्कारदाता या दण्डदाता के रूप में नहीं

देखती वरन् उसे अपना स्वामी, अपना प्रेमी ही मानती है। उसके बच्चे उसमे क्या देखते है? एक प्रेमी पिता न कि दण्डदाता या वर दाता। उसी तरह ईश्वर के बालको को भी ईश्वर, दण्डदाता या वर दाता नही दीख पडता। ये सब बाहरी लोग–जिन्होने ईश्वर के प्रेम का स्वाद कभी नही लिया है वे ही उससे डरते है और जीवनभर उसके सामने भय से कॉपते रहते है। इस सब डर को दूर करो–ईश्वर दण्डदाता है या वर दाता है, ये सब भयंकर विचार है। इन सब विचारो से बर्बर प्रकृति वाले मनुष्यो को भले ही लाभ होता हो। कुछ अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य भी आध्यात्मिक जगत् मे बर्बर ही रहते है और इन विचारो से उन्हे सहायता मिल सकती है। पर जो मनुष्य धार्मिक है, धर्ममार्ग मे चल रहे है, जिनकी धार्मिक जागृति हो चुकी है उनके लिए ये विचार केवल लडकपन या मूर्खता के ही होगे। ऐसे मनुष्य भय के समस्त विचारो का परित्याग कर देते है।

तृतीय लक्षण और उच्चतर है। प्रेम सर्वोच्च आदर्श है। जब मनुष्य प्रथम दो श्रेणियो को पार कर जाता है–जब उसने सौदागरी छोड दी और समस्त भय को दूर भगा दिया–तब वह ऐसा अनुभव करने लगता है कि प्रेम ही सर्वोच्च आदर्श है। कितने ही बार रूपवती सुंदरी किसी कुरूप पुरुष को प्यार करते देखी गई है! कितनी ही बार कोई सुंदर पुरुष किसी कुरूपा स्त्री पर प्रेम करते देखा गया है! ऐसे प्रसंगो मे आकर्षक वस्तु कौनसी है? बाहर से देखने वालों को तो कुरूप पुरुष या कुरूपा स्त्री ही का दृश्य दिखाता है, प्रेमी का

रूप नहीं दिखाता। पर प्रेमी की दृष्टि में तो उससे बढ़ कर सुन्दरता और कहीं नहीं दिखाई देती। ऐसा कैसे होता है? जो स्त्री कुरूप पुरुष को प्यार करती है वह मानो अपने मन के भीतर जो सौंदर्य का आदर्श है उसे लेकर इस कुरूप पुरुष पर आरोपित करती है और वह स्त्री इस कुरूप पुरुष की नहीं वरन् अपने आदर्श की ही उपासना या उसी का प्यार करती है। यह पुरुष मानो केवल उपलक्ष्य मात्र है और इस उपलक्ष्य पर वह अपने आदर्श को डाल कर इसे आच्छादित कर देती है और तब यह मनुष्य उसका उपास्य बन जाता है। सभी प्रेम को यही बात लागू है। सोचो तो, हम में से कितनो के ही भाई बहन साधारण रूप के हैं तथापि उनके भाई या बहन होने का भाव ही उन्हे हमारे लिए सुंदर बना देता है।

इसके पीछे सिद्धान्त यह है कि हर एक व्यक्ति अपना आदर्श सामने लाता है और उसीकी उपासना करता है। यह बाह्य जगत केवल उपलक्ष्य मात्र है। हम जो कुछ देखते है वह सब हमारे मन से ही बाहर निकलता है। सीप के कीटक के भीतर बालुका का एक कण प्रवेश कर जाता है और वह कण उस कीटक को उत्तेजित करता है। इससे उस कीटक के शरीर से एक द्रव पदार्थ निकलता है जो उस बालू के कण को ढाक लेता है और परिणाम में सुंदर मोती प्राप्त होता है। यही हम सब कर रहे हैं। इसी प्रकार बाह्य-वस्तुओ से हमें केवल प्रेरणा की या उपलक्ष्य की प्राप्ति होती है जिसपर हम अपने आदर्श को स्थापित करके अपने सब पदार्थ निर्माण करते हैं। दुष्ट लोग इस संसार को घोर नरक के रूप में देखते हैं और

सज्जन इसे सच्चा स्वर्ग समझते है। प्रेमी जन इस संसार को प्रेममय देखते है और द्वेषी इसे द्वेषपूर्ण मानते हैं। लड़ाकू लोगों को इस संसार मे लड़ाई के सिवाय और कुछ नहीं दिखता और शान्ति प्रिय लोगो को शान्ति ही दिखाई देती है। सिद्ध पुरुषो को एक ईश्वर को छोड़ और कुछ नहीं दिखाई देता। इस तरह हम सदा अपने ही उच्चतम आदर्श की उपासना करते है और जब हम आदर्श को उसका सच्चा स्वरूप जानकर प्रेम करने लगते है तो उस अवस्था मे पहुँच जाते है जहाँ समस्त वादविवाद और शंकाएँ सदा के लिए लुप्त हो जाती है। फिर तो इस वात की किसे परवाह रह जाती है कि ईश्वर का अस्तित्व प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकता है या नहीं। आदर्श तो कभी दूर नहीं हट सकता, क्योकि वह मेरी प्रकृति का ही अंश है। उस आदर्श मे मुझे शंका होना तभी सम्भव है जब मै अपने ही अस्तित्व के विपय मे शंका करूँ। और मै इसमें शंका नहीं कर सकता इसलिए उसमे भी शंका नहीं कर सकता।

उस अवस्था मे पहुँच जाने पर फिर किसे इस वात की परवाह रह जाती है कि साइन्स हमारे लिए यह वात सिद्ध कर सकती है अथवा नहीं कि ईश्वर मानो हमारे वाहर कहीं किसी अन्यत्र स्थान मे रहता है, अपने मन की लहर के अनुसार इस संसार का जैसा चाहता है परिचालन करता है, अथवा इस सृष्टि का कुछ दिनों मे निर्माण करके फिर शेप समय के लिए विश्राम करने चला जा‌ता है। इसी प्रकार इस वात की भी फिर किसे परवाह रह जाती

कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् और साथ ही सर्वदयामय भी हो सकता है अथवा नहीं। इस बात की भी फिर किसे चिन्ता रहती है कि ईश्वर मनुष्य के लिए वरदाता है या नहीं; अथवा वह हमारी ओर अत्याचारी शासक की दृष्टि से देखता है, या एक दयालु सम्राट् की दृष्टि से। प्रेमी तो इन सब बातों के—पुरस्कार और दण्ड, भय और शंका, वैज्ञानिक या अन्य प्रमाण के—परे पहुँच गया है। उसके लिए प्रेम आदर्श ही पर्याप्त है और उसके लिए क्या यह स्वयं सिद्ध बात नहीं है कि यह संसार इस प्रेम का ही प्रकट स्वरूप है? वह कौन सी वस्तु है जो अणुओं को लाकर अणुओ से मिलाती है, परमाणुओं को परमाणुओ से मिलाती है; बड़े बड़े दो ग्रहो को आपस मे एक दूसरे की ओर आकृष्ट करती है, पुरुष को स्त्री की ओर, स्त्री को पुरुष की ओर, मनुष्य को मनुष्य की ओर, पशुओ को पशुओ की ओर आकृष्ट करती है; मानो समस्त संसार को एक ही केन्द्र की ओर खींचती हो? यह वही वस्तु है जिसे 'प्रेम' कहते हैं। सब से छोटे परमाणु से लेकर बड़े से बड़े व्यक्ति मे उस प्रेम का प्रकाश या स्वरूप दिखाई देता है। यह प्रेम सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वत्र है। चेतन में और अचेतन में, व्यष्टि मे और समष्टि मे यही भगवत् प्रेम आकर्षक की तरह प्रकट होता है। संसार मे यही एक प्रेरक शक्ति है। उसी प्रेम की स्फूर्ति या प्रेरणा से ईसा ने मानव जाति के लिए अपने प्राणो का त्याग किया; बुद्ध एक जीवधारी के भी लिए, माता सन्तान के लिए, और पुरुष स्त्री के लिए प्राण त्यागने को तैयार होते हैं। इसी प्रेम की प्रेरणा से मनुष्य अपने देश के लिए प्राण त्यागने को उद्यत रहते

है। और आश्चर्य की बात है कि इसी प्रेम से प्रेरित होकर चोर चोरी करने और हत्यारा हत्या करने जाता है। कारण यह है कि इन स्थानो मे भी आत्मा तो वही है यद्यपि प्रकाश्यरूप मे भिन्नता है। संसार मे यही तो एक मात्र प्रेरक शक्ति है। चोर को स्वर्ण पर प्रेम है; यहाँ भी प्रेम तो है पर उसका अनुचित उपयोग किया जा रहा है। उसी तरह सभी जुर्मो मे और सभी पुण्य कर्मों में वही शाश्वत प्रेम इनके पीछे है। मान लो, एक मनुष्य न्यूयार्क के दरिद्र मनुष्यो के लिए एक हज़ार डॉलर का चेक लिखता है और उसी समय उसी कमरे मे एक दूसरा मनुष्य अपने मित्र के नाम से जाल साजी कर रहा है। एक ही दीपक के प्रकाश मे दोनो लिख रहे है पर जो उस प्रकाश का जैसा उपयोग करता है उसके लिए वही जवाबदार है। वह प्रकाश तो किसी निंदा या स्तुति का पात्र नहीं हो सकता। संसार की यह प्रेरक शक्ति प्रेम निर्लेप और सब वस्तुओ मे प्रकाशमान है। इसके बिना संसार क्षणभर मे चूर्ण होकर नष्ट हो जाएगा। और यह प्रेम ही परमेश्वर है।

"हे प्रियतम! पति पर कोई पत्नी पति के लिए प्रेम नहीं करती। वरन् पति के अंदर मे जो +'आत्मवस्तु' या आत्मा है उसके लिए पत्नी पति पर प्रेम करती है। हे प्रियतम! कोई पति पत्नी पर पत्नी के लिए प्रेम नहीं करता वरन् पत्नी के अंदर में जो आत्मा है उसके लिए प्रेम करता है। कोई किसी भी चीज़ पर केवल आत्मा को छोड़कर और किसी बात के लिए प्रेम नहीं

+ अविनाशी शाश्वत आत्मा जो सृष्टि का आदि कारण है।

करता।"* यहाँ तक कि जिस की इतनी निंदा की जाती है वह स्वार्थपरता भी तो उसी प्रेम का ही स्वरूप है। इस खेल को छोड़कर अलग खड़े हो जाओ, उसमें अपने को शामिल न करो वरन इस अद्भुत दृश्य को, इस अपूर्व नाटक को, एक अंक के बाद दूसरे अंक के अभिनय को देखते चलो और इस अद्भुत स्वरालाप को सुनते जाओ। ये सभी उसी प्रेम के प्रकाशरूप हैं। स्वार्थ परायणता मे भी वही आत्मा या "स्व" अनेक हो जाता है और बढ़ता ही जाता है। वही एक आत्मा एक मनुष्य के विवाह होने पर दो आत्मा और बच्चे पैदा होने पर अनेक आत्मा हो जाएगा; वही पूरा गांव हो जाएगा, पूरा शहर हो जाएगा और फिर भी बढ़ते बढ़ते यहाँतक बढ़ेगा कि सारी दुनिया को अपनी आत्मा, सारे विश्व को अपनी आत्मा अनुभव करने लगेगा। वही आत्मा अन्त मे सभी पुरुष, सभी स्त्रियाँ, सभी बच्चो, सभी जीवधारियो, सभी विश्व को एकत्र कर लेगा। वही प्रेम बढ़कर सर्वव्यापी प्रेम, अनन्त प्रेम का एक समुच्चय रूप धारण कर लेगा और वही प्रेम ईश्वर है।

इस प्रकार हम पराभक्ति, परम अनुराग में पहुँचते है जब कि अनुष्ठान और प्रतीक छूट जाते है। जो इस अवस्था मे पहुँच जाता

* '.. न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। .. .. .न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

—बृहदारण्यकोपनिषद्, २-४-५

है वह फिर किसी सम्प्रदाय के भीतर नही रह सकता क्योकि सभी सम्प्रदाय तो उसीके भीतर है। वह किसमे प्रवेश करेगा? इस प्रकार का मनुष्य किसी मंदिर या गिर्जाघर मे नहीं जा सकता, क्योकि सभी मंदिर और गिर्जाघर तो उसी मे है। उसके योग्य बड़ा गिर्जाघर है कहॉ? ऐसा मनुष्य अपने को निश्चित सीमाबद्ध विधि या अनुष्ठान मे बॉधकर नही रख सकता। वह तो "असीम प्रेम" के साथ एक हो गया है। उस "असीम प्रेम" की सीमा कहॉ है? जिन सब धर्मों मे यही प्रेम आदर्श माना गया है उन सब मे उस प्रेम को प्रकट करने का सतत यत्न देखा जाता है। इस प्रेम का क्या अर्थ है उसे हम अपने अंतर मे जानते है और यद्यपि हम देखते है कि इस आसक्तिमयी और आकर्षणमयी सृष्टि में प्रत्येक वस्तु उसी "असीम प्रेम" का अंशतः या पूर्णतया प्रकाशन या स्वरूप मात्र है तो भी हम उसे वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकते। हॉ, भिन्न भिन्न देशों के साधु महात्माओ ने उसे वर्णन करने का प्रयत्न किया है, और हम देखते है, भाषा की समस्त शक्ति का मंथन कर डाला है तथा ईश्वर सम्बन्धी छोटी छोटी भावनाओ को भी प्रकट करने के लिए घोर इन्द्रिय विषयक शब्दो को भी ईश्वरी भाव के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

हिब्रू राजर्षि* और भारतवर्षीय ऋषियो ने उस ईश्वर की स्तुति का गान इस प्रकार किया है, "हे प्यारे! तेरे अधरों का एक चुम्बन होते ही तेरे लिए पिपासा सदा बढ़ती ही जाती

* The Song of Solomon, in the Old Testament.

है। सभी दुःखो का अन्त हो जाता है और भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी को मनुष्य भूल जाता है और एक तेरा ही चिन्तन मात्र किया करता है।"+ यही प्रेमी का पागलपन है। इस अवस्था मे सभी वासनाएँ नष्ट हो जाती है। प्रेमी कहता है, "मोक्ष की किसे परवाह है? उद्धार की किसे इच्छा है; सिद्ध भी कौन होना चाहता है? स्वतंत्रता की किसे परवाह है?"

"न मै धन चाहूँ, न आरोग्य, न सौन्दर्य, न बुद्धि। सभी दोषों से पूर्ण इस संसार मे मेरा पुनः पुनः जन्म हो। मुझे कोई शिकायत न होगी परन्तु हे ईश्वर! तुझ पर मेरा प्रेम सदा बना रहे और यह प्रेम, किसी अन्य हेतु से नहीं, केवल प्रेम के लिए ही यह प्रेम हो, यानि तुझ पर मेरी अहैतुकी भक्ति हो।"* यही तो प्रेमोन्माद है जो उक्त स्तुति गान में प्रकाशित की गई है। मानव प्रेम मे स्त्री–पुरुष का प्रेम ही उच्चतम, अत्यन्त व्यक्त, परम प्रबल और परम आकर्षक होता है; इसी कारण उसी भाषा का व्यवहार

\+ सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणा
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
श्रीमद्भागवत, १०–३१–१४

* न धनं न जनं न च सुन्दरीं
कविता वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
—श्रीकृष्णचैतन्य।

उच्चतम भक्ति के वर्णन मे किया जाता है। इस मानव प्रेम का उन्माद संत महात्माओ के ईश्वर प्रेम के उन्माद की अत्यन्त क्षीण प्रतिध्वांन है। ईश्वर के सच्चे प्रेमी (भक्त) ईश्वरी प्रेम मे रंगकर उन्मत्त होना चाहते है। वे "भगवत्प्रेमोन्मत्त पुरुष" वनना चाहते है। प्रत्येक धर्म के साधु महात्माओ ने जो प्रेम मदिरा अपने हृदय का रक्त डाल कर तैयार की है, जो प्रेम मदिरा प्रेम के लिए ही प्रेम करने वाले समस्त निष्काम ईश्वर प्रेमी भक्तो की आशाओ का आधार या आश्रयस्थान है उसी प्रेम मदिरा का प्याला ये प्रेमी भक्त पीना चाहते है! प्रेम का पुरस्कार प्रेम ही है और यह कैसा उत्तम पुरस्कार है! यही एक वस्तु जो समस्त दुःखो को दूर करती है; इसी प्याले को पीने से इस संसार रूपी व्याधि का नाश हो जाता है; मनुष्य ईश्वरोन्मत्त बन जाता है और मै मनुष्य हूॅ यह भी भूल जाता है। अन्त मे हम देखते है कि सभी भिन्न भिन्न प्रणालियॉ अन्त मे उसी एक विन्दु—पूर्ण एकता—पर पहुॅचती है।

हम आरम्भ मे सदा द्वैतवादी ही रहते है! उस समय यह भावना रहती है कि ईश्वर एक भिन्न व्यक्ति है और मै एक दूसरा व्यक्ति हूँ। दोनो के वीच मे प्रेम उपस्थित होता है और मनुष्य ईश्वर की ओर वढ़ना आरम्भ करता है और ईश्वर मानो मनुष्य की ओर। मनुष्य अपने जीवन के सभी सम्वन्धियो को—उदाहरणार्थ, माता, पिता, मित्र, प्रेमी को—अपनाता जाता है; वही यह सव वन जाता है: और अन्तिम अवस्था यह हो जाती है कि वह अपने उपास्य के साथ एक हो जाता है। "मै तू हूॅ और तू मै, और तेरी पूजा करते हुए मै स्वयं अपनी पूजा

है। सभी दुःखों का अन्त हो जाता है और भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी को मनुष्य भूल जाता है और एक तेरा ही चिन्तन मात्र किया करता है।"+ यही प्रेमी का पागलपन है। इस अवस्था में सभी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। प्रेमी कहता है, "मोक्ष की किसे परवाह है? उद्धार की किसे इच्छा है; सिद्ध भी कौन होना चाहता है? स्वतंत्रता की किसे परवाह है?"

"न मैं धन चाहूँ, न आरोग्य, न सौन्दर्य, न बुद्धि। सभी दोषों से पूर्ण इस संसार में मेरा पुनः पुनः जन्म हो। मुझे कोई शिकायत न होगी परन्तु हे ईश्वर! तुझ पर मेरा प्रेम सदा बना रहे और यह प्रेम, किसी अन्य हेतु से नहीं, केवल प्रेम के लिए ही यह प्रेम हो, यानि तुझ पर मेरी अहैतुकी भक्ति हो।"× यही तो प्रेमोन्माद है जो उक्त स्तुति गान में प्रकाशित की गई है। मानव प्रेम में स्त्री-पुरुष का प्रेम ही उच्चतम, अत्यन्त व्यक्त, परम प्रबल और परम आकर्षक होता है; इसी कारण उसी भाषा का व्यवहार

\+ सुरतवर्धनं शोकनाशनं
स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां
वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
श्रीमद्भागवत, १०-३१-१४

× न धनं न जनं न च सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
—श्रीकृष्णचैतन्य।

उच्चतम भक्ति के वर्णन मे किया जाता है। इस मानव प्रेम का उन्माद संत महात्माओ के ईश्वर प्रेम के उन्माद की अत्यन्त क्षीण प्रतिध्वांन है। ईश्वर के सच्चे प्रेमी (भक्त) ईश्वरी प्रेम मे रंगकर उन्मत्त होना चाहते है। वे "भगवत्प्रेमोन्मत्त पुरुष" बनना चाहते है। प्रत्येक धर्म के साधु महात्माओ ने जो प्रेम मदिरा अपने हृदय का रक्त डाल कर तैयार की है, जो प्रेम मदिरा प्रेम के लिए ही प्रेम करने वाले समस्त निष्काम ईश्वर प्रेमी भक्तों की आशाओ का आधार या आश्रयस्थान है उसी प्रेम मदिरा का प्याला ये प्रेमी भक्त पीना चाहते है! प्रेम का पुरस्कार प्रेम ही है और यह कैसा उत्तम पुरस्कार है! यही एक वस्तु जो समस्त दुःखो को दूर करती है; इसी प्याले को पीने से इस संसार रूपी व्याधि का नाश हो जाता है; मनुष्य ईश्वरोन्मत्त बन जाता है और मै मनुष्य हूॅ यह भी भूल जाता है। अन्त मे हम देखते है कि सभी भिन्न भिन्न प्रणालियॉ अन्त मे उसी एक बिन्दु—पूर्ण एकता—पर पहुॅचती है।

हम आरम्भ मे सदा द्वैतवादी ही रहते है! उस समय यह भावना रहती है कि ईश्वर एक भिन्न व्यक्ति है और मै एक दूसरा व्यक्ति हूँ। दोनो के बीच मे प्रेम उपस्थित होता है और मनुष्य ईश्वर की ओर बढ़ना आरम्भ करता है और ईश्वर मानो मनुष्य की ओर। मनुष्य अपने जीवन के सभी सम्बन्धियो को—उदाहरणार्थ, माता, पिता, मित्र, प्रेमी को—अपनाता जाता है; वही यह सब बन जाता है: और अन्तिम अवस्था यह हो जाती है कि वह अपने उपास्य के साथ एक हो जाता है। "मै तू हूॅ और तू मै, और तेरी पूजा करते हुए मै स्वयं अपनी पूजा-

करता हूँ और अपनी पूजा करते हुए मै तेरी पूजा करता हूँ।" उस समय हमे उसी वस्तु की परमोच्च अवस्था का अनुभव होता है जिस वस्तु से मनुष्य अपना कार्य आरम्भ करता है। आरम्भ में वह आत्म-प्रेम ही था पर क्षुद्र आत्मीयता के भाव ने उस प्रेम को स्वार्थमय बना दिया और अन्त में जब प्रकाश की पूर्ण ज्योति का आविर्भाव हुआ उस समय उस आत्मीयता ने "अनंत" का रूप ले लिया। जहाँ से हम आरम्भ करते है वहीं पर अन्त भी होता है। वह ईश्वर जो सर्व प्रथम स्थानविशेष मे रहने वाला व्यक्ति था उसीने मानो "अनंत प्रेम" का रूप धारण कर लिया। स्वयं मनुष्य का भी रूपांतर हो गया, वह ईश्वर की ओर अग्रसर हो गया; वह जिन व्यर्थ की वासनाओ से पहले पूर्ण था, उन सभी वासनाओं को दूर करता गया। वासनाओ के साथ स्वार्थपरता भी नष्ट हुई और अन्त मे उसे यही अनुभव हुआ कि प्रेम, प्रेमी और प्रेम पात्र अर्थात् भक्ति, भक्त और भगवान् तीनों एक ही है !!

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१. श्रीरामकृष्ण लीलामृत (विस्तृत जीवनी), दो भागों में,
प्रत्येक भाग का मूल्य ५ रु.

२. विवेकानन्दजी के संग में—शिष्य शरच्चन्द्र कृत मूल्य ५। रु.

श्री स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

३. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (द्वितीय संस्करण) मूल्य १।)
४. परिव्राजक (तृतीय संस्करण) ... ... ,, १।)
५. प्राच्य और पाश्चात्य (द्वितीय संस्करण) ... ,, ।।।=)
६. भक्तियोग ... ... ,, ।।।=)
७. मेरे गुरुदेव (तृतीय संस्करण) ... ... ,, ।।=)
८. शिकागो वक्तृता (चतुर्थ संस्करण) ... ,, ।।=)
९. वर्तमान भारत (द्वितीय संस्करण) ... ,, ।।)

मराठी विभाग

१. श्रीरामकृष्ण चरित्र, दो भागो मे, प्रत्येक भाग का मूल्य २।।।)
२. श्रीरामकृष्ण वाक्सुधा ... ... ,, ।-)
३. श्रीरामकृष्ण देव यांचे संक्षिप्त चरित्र ... ,, -)।।
४. शिकागो धर्मपरिषदेतील व्याख्याने—श्री स्वामी
विवेकानन्द कृत ,, ।)
५. माझे गुरुदेव ... ... ,, ।)
६. साधु नागमहाशय चरित्र ... ... ,, ।।।)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर, सी. पी